काकाजी
बापू
विनोबा

गुण-दर्शन

"मेरे जीवन पर, पूज्य काकाजी, विनोबा और बापू के संस्कार कम-ज्यादा प्रमाण में, अन्य किसी दूसरे व्यक्ति की बनिस्बत अधिक पड़े हैं। बापू को काकाजी ने पिता माना था और विनोबा को गुरु। बापू इस नाते से हम सभी बहन-भाइयों के पितामह हुए और विनोबा कुल-गुरु अथवा व्यक्तिगत गुरु भी। यह परस्पर का रिश्ता गुरुजनों को, और हम बच्चों को, मंजूर रहा।...

"उनके गुणों के दर्शन, उनके महान व्यक्तित्व का खयाल और उनके मानवता के भावों के प्रति आदर उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया। उसमें कभी कमी नहीं आई। मन यही कहता रहा कि वे तो महान रहे, पर तू कैसा? उनको पाने का सद्भाग्य तो मेरा रहा, पर उनके लायक मैं न कभी था, न हूं।"

...

"गुरुजनों ने, साथी और मित्रों ने अनेक बार कहा कि मुझे लिखना चाहिए। मुझे लिखने-लिखाने की आदत तो दूर, उसका ढंग, तरीका भी मालूम नहीं है। उसके प्रति हमेशा उदासीनता और आलस ही रहा।

...

"जो कुछ इस किताब में लिखा है, पाठक इसे मेरे जीवन से न तोलें।

...

"इन गुरुजनों को जैसा मैंने देखा, समझा, सुना औ
विचारों व कृति को सोचा उसे, यदि मेरी व्यक्तिगत सीम
छोड़ दिया जाय तो, ज्यों-का-त्यों सहज-भाव से रखा है
सब-कुछ उन्हींका है। मेरा नहीं। कुछ अपना भी मिल
वह मिलावट ही है; पाठक उसमें से फूस, कंकड़ और घुन
कर के सत्य, शिव और सुन्दर विचार-कण को ही ग्रहण

—कमलनयन

काकाजी
बापू
विनोबा

काकाजी बापू

काकाजी बचपन से ही साधक रहे।
मोह, मद, माया, लोभ ने उन्हें कभी नहीं सताया।

बापू ने मिट्टी से मिनख बनाये, न होने
जैसे कार्य उनसे करवाये।

विनोबा का जीवन प्रशांत महासागर की
तरह गंभीर और शांत है।
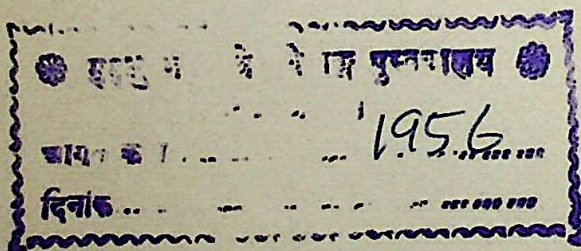
कमलनयन बजाज

मूल्य

प्रकाशक : मार्तण्ड उपाध्याय, मंत्री, सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली

मुद्रक : सम्मेलन मुद्रणालय, प्रयाग

संशोधित मूल्य

विषय सूची

●

क्यों

मेरे जीवन पर, वल्कि हम पांचों भाई-वहनों पर, पू० काकाजी, मां, विनोवा और वापू के संस्कार कम-ज्यादा प्रमाण में अन्य किसी दूसरे व्यक्ति की वनिस्वत अधिक पड़े हैं। वापू को काकाजी ने पिता माना था और विनोवा को गुरु। वापू इस नाते से हम सभी वहन-भाइयों-वच्चों के पितामह हुए और विनोवा कुल-गुरु के अलावा व्यक्तिगत गुरु भी। यह परस्पर रिश्ता गुरुजनों को, और हम वच्चों को, मंजूर रहा।

मां-काकाजी से जन्म से और वापू-विनोवा से वचपन से ही मेरा अत्यधिक निकटता का संपर्क रहा है। ऐसे गुरुजन मुझे मिले, वह चाहे मेरा पूर्वजन्म का पुण्य अथवा अहोभाग्य रहा हो, उसका असीम समाधान मुझे हमेशा रहा। उनके गुणों के दर्शन, उनके महान व्यक्तित्व का खयाल और उनके इंसानियत के भावों के प्रति अदर

उत्तरोत्तर वढ़ता ही गया, उसमें कभी कमी नहीं आई। मन यही कहता रहा कि वे तो महान रहे, पर तू कैसा ? उनको पाने का सद्भाग्य मेरा रहा, उनके लायक मैं न कभी था, न हूं। उनका होने की थोड़ी-वहुत भी पात्रता जव कभी मुझमें आवेगी तो वह मेरे जीवन का समाधान व सार्थकता होगी। मैं धन्य होऊंगा।

मेरा स्वभाव वचपन से ही निडरता और स्पष्ट-वादिता, यहां तक कि अवखड़पन का रहा है। व्यक्तित्व जैसा और जितना होते हुए भी एकदम निराला, किसी के दवाव या प्रभाव में न आनेवाला, स्वतंत्र रहा है।

मुझे लिखने-लिखाने की आदत तो दूर रही उसका ढंग, तरीका भी मालूम नहीं है। इसके प्रति हमेशा उदासीनता और आलस ही रहा। गुरुजनों ने, साथी और मित्रों ने अनेक वार कहा और अव भी कहते रहते हैं कि मुझे लिखना चाहिए। कई वार चाहते हुए भी वह मुझसे हो नहीं पाता। मन में विश्वास भी नहीं होता। क्यों और कैसे लिखूं ! भाव और विचार रहते हैं, उसमें चिंतन भी शामिल हो जाता है। घटनाएं स्पष्ट रूप से नजर के सामने नाचने लगती हैं। बोल जाता हूं, और कभी-कभी अच्छा भी। फिर भी लिखने में वह सहजता, आसानी लगती नहीं। तरद्दुद महसूस होती है, लिखने को आ ही पड़ा तो उससे पिंड कैसे छूटे, इस तरह के भावों से परेशान हो जाता हूं। फिर भी जव लिखाने लगता हूं तो प्रवाह चालू हो जाता है, भाव और विचार शृंखला-वद्ध आने लगते हैं। संस्मरण और घटनाएं स्पष्ट होती चली जाती हैं। लिखा देने पर अधिकतर अच्छा भी लगता है और संतोष भी होता है।

जो लोग मुझे जानते हैं वे, और लेखक वर्ग व साहित्य-जगत में जिनकी प्रतिष्ठा व कुछ अधिकार है, वे भी मुझे

स्नेह-भाव से उलाहना देते रहते हैं कि मैं वहुत-कुछ लिख सकता हूं लेकिन विना किसी कारण के टालता रहता हूं। मुझे भी लगता है कि लिख सकता हूं। मेरे पास सामग्री है। वह देने के लिए इच्छुक ही नहीं पर ऐसा महसूस करता हूं कि जो कुछ मैंने गुरुजनों से सीखा, पाया या मुझे मिला उसे मैं अपने जीवन में चाहे न भी उतार सका तो भी उसको जहां तक हो सके जैसा का तैसा, गुरुजनों के ऋण का अंशमात्र भी उतारने के लिए नहीं, वरन् समाज के प्रति अपना कर्तव्य समझकर मुझे देना ही चाहिए।

परमात्मा की कृपा से ऐसे माता-पिता और गुरुजन मुझे मिले जिसके लिए पात्र मैंने अपने-आपको कभी समझा नहीं। यह नसीव ही था। उनका जो लाभ मुझे हो गया वह भगवत्कृपा और गुरुजनों का आशीर्वाद हा था। मैं तो स्वच्छंद, अक्खड़, मस्त, बंड और नटखट ही रहा। इसमें मेरा प्रयास कभी किंचित भी महसूस नहा हुआ। यह थाती जो मुझे सहज और मुफ्त में मिल गई, उस धरोहर को यदि मैं आत्मसात न कर सकूं या संभाल ही न सकूं तो भी मैं उसको दूसरों तक पहुंचाने की जिम्मेदारी से वच नहीं सकता हूं। यह सव भाव मन में होते हुए भी अपने-आपको लाचार और इसके लिए अनुपयुक्त महसूस करता रहा हूं।

जो कुछ इस किताव में लिखा है, पाठक उसे मेरे जीवन से न तोलें। इसकी टीका-टिप्पणी करना हो, अधिक जानने की जिज्ञासा हो, उसकी चर्चा करने में आनंद आता हो, तो उससे मुझे बुरा लगने का अथवा एतराज होने का तो कारण ही नहीं, वल्कि मुझे भी उसमें मजा ही आवेगा। लेकिन मेरा जीवन काफी अंशों में भिन्न और विखरा हुआ है। मेरी प्रकृति स्वच्छंद,

विचार स्वतंत्र और स्वभाव अक्खड़ व मस्त वचपन से ही रहे हैं। उसका मुझे किसी प्रकार का रंज या खेद कभी नहीं रहा ; वल्कि चित्त में एक प्रकार की प्रसन्नता और समाधान ही रहा है। गुरुजनों से वहुत-कुछ पाया और अपनी बुद्धि व समझ के अनुसार लिया भी है। लेकिन मेरी शक्ति और सामर्थ्य सीमित होने की वजह से कितना हजम कर सका इसको कहने का प्रसंग यहां नहीं है। दूसरों को मोल-तोल करना हो अवश्य करें, वह भी एक मनोरंजन होगा। लेकिन जैसा इन गुरुजनों को मैंने देखा, समझा, सुना और उनके विचारों व कृति को सोचा उसे, यदि मेरी व्यक्तिगत सीमाओं को छोड़ दिया जाय, तो ज्यों-का-त्यों, सहजभाव से रखा है। इसमें उन्हीं का सव-कुछ है, मेरा नहीं। कुछ अपना भी मिल गया तो वह मिलावट ही है; उसमें से फूस, कंकड़ और घुन को पाठक दूर कर सत्य, शिव और सुन्दर विचार-कण को ही ग्रहण करें।

मां तथा इन तीनों गुरुजनों के व्यक्तित्व, स्वभाव, विचार, कृति और आदतों का अत्यधिक प्रभाव मुझ पर रहा है। मेरा जीवन इससे काफी ढला, वना व विगड़ा भी है। मां के वारे में इसमें कुछ नहीं है। इसका कारण इतना ही है कि मैंने इनमें से किसी के वारे में अपनी इच्छा से प्रयत्न करके नहीं लिखा। मां के वारे में लिखने की किसी की मांग नहीं हुई, किसी ने लिखवाया नहीं और अन्य तीनों के वारे में जितनी मांग व आग्रह लोगों का रहा उसका शतांश भी मैं पूरा कर नहीं सका। जो कुछ लिखा गया, लिख गया, या लिखवा लिया गया, उसका सार और विचार करीव-करीव ज्यों-का-त्यों ही है। भाषा-शैली और शब्दों का चुनाव मेरा ही है। जहां-तहां गुरुजनों के कथन का उद्धरण याददाश्त से ही दिया

है, उन्हीं के शब्दों में देने का खयाल और प्रयास किया है।

अभी तक जो कुछ लिखा गया है वह सब संकलित नहीं हो सका है। मेरी अलमस्ती के बावजूद जितना कुछ बच गया या जमा हो सका, उसीको यहां दे दिया गया है। मेरे मन में इन चारों के बारे में लिखने की इच्छा वर्षों से रही है। आत्मीय जानकार लोगों की अपेक्षा तो बहुत-कुछ है। मुझे भी लगता है कि मेरे पास याददाश्त की सामग्री काफी हो जानी चाहिए जिससे इन सबके ऊपर स्वतंत्र रूप से एक-एक पुस्तक बन सके। लेकिन यह जवाबदारी कब और कैसे पार पड़ेगी, या पड़ेगी भी, यह मैं नहीं जानता। गुरुजनों या समाज के प्रति उऋण होने की भावना नहीं है। ऋणी रहने में मुझे किसी प्रकार का असंतोष होना तो दूर रहा, समाधान ही है। लेकिन जो कुछ मुझे मिला है वह सिर्फ मेरा नहीं। जो कोई उसे हजम कर सके, अपना सके, अपना कर सके, उसतक पहुंचाने का फर्ज महसूस होता है। मेरा तो उतना ही होगा जितना मैं आत्मसात कर सका और जीवन में उतार सका।

यह संकलन, यह मिली हुई सामग्री जो दी गई है वह अधूरी तो है ही; सिलसिलेवार भी नहीं है। मुझको इसे इसी रूप में प्रकाशित करने में कुछ अटपटा और अखरता भी रहा है। मुकुल उपाध्याय ने इसे संकलित किया और पू० दा साहब (श्री हरिभाऊजी उपाध्याय) तथा अनेक मित्र उसे देख गए। उन्होंने इस संकलन को प्रकाशित करना वांछनीय समझा। इस वजह से इसके प्रकाशन की धृष्टता कर रहा हूं। इसमें जो टिकने लायक है वह टिकेगा, जो विस्मरणीय है वह मिटेगा; वह जल्दी ही मिटे यही लालसा है। अनावश्यक सामग्री समय और

समाज पर बोझ रूप क्यों रहे ! विनोवा के शब्दों में वह भी हिंसा है।

यह प्रकाशन मिट जाय उसकी मुझको विलकुल फिक्र नहीं है। यदि वही ठीक है तो वैसा ही होना चाहिए। लेकिन इसके प्रकाशित होने से मेरे अथवा अन्य किसी एक के भी जीवन में कुछ अंश का ही फरक पड़े और उससे लाभ हुआ तो मुझे ऐसा ही संतोष होगा जो भोजन पकाकर स्वयं अथवा दूसरे को खिलाकर पोषण देने-वाले को होता है।

मित्रों ने इस पुस्तक के कई नाम सुझाए। आखिर जो सहज और स्वाभाविक नाम मुझे लगा था, वही पसंद हुआ। एकाध मित्र ने सुझाया कि 'काकाजी' के साथ 'वापूजी' भी करना चाहिए; 'विनोवाजी' न भी करें तो तो चले। लेकिन 'काकाजी' में 'जी' जीकारांत नहीं है, सिर्फ काका ही रखा जाता तो गांधी-परिवार के लोग उसे काकासाहव समझते। शेखावटी में 'काका' पिता के भाइयों का और 'काकाजी' पिता का संबोधन है। ये अभिव्यक्तियां अपने स्थान पर इतनी ऊंची हैं, उनको सहज भाव से जो बोला जाता था वही संबोधन मैंने रखा है। उनके पीछे 'जी' लगाकर जी निकालना नहीं है।

न मैं किसी का हूं, न कोई मेरा। फिर भी अपना और पराया भाव कैसे रखूं ! सभी आत्मीय हैं और शुभचिंतक। अनेकों का सहयोग मुझे प्राप्त हुआ है। समय-समय पर जिन्होंने लिखवा लिया, मैं बोला वह लिख लिया। किन्हें धन्यवाद दूं ? वड़ों को धन्यवाद देकर उनका कुछ वढ़ाया नहीं जा सकता और छोटों को ही देना हो तो मुझे ही लेना होगा।

कमलनयन बजाज

'गुरु-प्रसाद'

पूज्य विनोवा से विहार में १ सितंवर, १९६९ को मिला था। मैंने उनसे कहा कि हालांकि आपने पुस्तकों की प्रस्तावना लिखना बंद कर दिया है, फिर भी मेरा संबंध काकाजी, वापू और आपसे जैसा रहा है, उसको समझने और लिखनेवाला आपसे उपयुक्त दूसरा कोई नहीं हो सकता। इसलिए आपको ठीक लगे तो प्रस्तावना लिखकर दें। पांडुलिपि साथ में ले गया था। मैंने कहा—"आपने कई वार कहा है कि मुझे लिखना चाहिए। तो यह जो लिखा है, उसे देख जाइए। आपको पसंद हो तभी यह प्रकाशित होगा।"

पांडुलिपि सुनाने के लिए मुझे उनके पास रहने की आवश्यकता हो तो फिर से आजाने की तैयारी

मैंने वताई। उन्होंने कहा कि वह सुन लेंगे, उसके लिए आने की आवश्यकता नहीं है।

फिर ३ नवम्वर, १९६९ को विनोवाजी से सेवाग्राम में मिला। पुस्तक के वारे में मेरे पूछने पर उन्होंने इतना ही कहा, "लिखा अच्छा है, पर फिलहाल अप्रकाशित रहे तो हर्ज नहीं।" मैंने कहा, "इससे मेरा वोझ उतर गया। कोई प्रकाशित करने या अधिक लिखने को कहेगा, तो मैं इंकार करते हुए आपका हवाला उसे दे दूंगा।" अन्य दूसरी महत्व की चर्चा होने की वजह से इस संवंध में इतनी ही वात हो सकी।

उसके वाद १० नवम्वर, १९६९ को मैंने उनसे समझना चाहा कि किताव अप्रकाशित रखने में उनकी कोई विशेष दृष्टि रही हो तो मुझे कहें अन्यथा उसकी भी जरूरत नहीं। वह थोड़ा हँसे और एक उंगली से ऊपर इशारा करते हुए बोले, "तुमने तीन जनों के लिए लिखा है। दो तो ऊपर गये, मैं अभी जिंदा हूं।" फिर अधिक खुलकर हँसते हुए बोले, "शायद ठहरना ही ठीक हो।"

मैंने कहा, "वे गये और आप हैं, इसमें आप फरक क्यों कर रहे हैं? यह शरीर की हो आसक्ति नहीं होगी क्या?" दूसरा वाक्य मैं पूरा कर पाऊं या वह सुन पाएं, इसके पूर्व ही वह बोले, "ठीक है इसे छपा सकते हो।"

फिर मुझसे पूछा, "पुस्तक का नाम क्या दिया है?" मेरे कहने पर कि "काकाजी वापू विनोवा", उन्होंने कहा कि दूसरा नाम भी हो सकता है।

मैंने कहा, "आप सुझाइए", तो मुस्कुराते हुए बोले, "तीन जनों की तिकड़म।"

मदालसा ने पूछा, "इसका अर्थ समझाइए", तो हँसे और बोले, "उसकी क्या जरूरत है?"

मैंने कहा, "जो कुछ आप प्रस्तावना के रूप में लिखें, उसका शीर्षक मैं 'गुरु-प्रसाद' देना चाहता हूं।" उन्होंने एक कागज पर लिखकर देते हुए कहा, "इस पर शीर्षक देने की ज़रूरत नहीं"

सत्य प्रेम करुणा

विनोबा का

जय जगत

सेवाग्राम
१०. ११. १९६८

काकाजी

के व्यापार में दान था;
हमारे दान में व्यापार है।

जमनालालजी 'काकाजी' के नाम से पुकारे जाते थे। मारवाड़ी भाषा में पिता को काकाजी कहते हैं। चूंकि हम वच्चे उनको काकाजी कहते थे, इसलिए सभी लोग उनको काकाजी कहने लगे। उनका परिवार उत्तरोत्तर वढ़ता ही गया और जीवन के आखिरी क्षण तक उसमें वृद्धि होती रही।

काकाजी के स्वभाव में एक विशेष गुण यह था कि वह छोटे-वड़े सभी से जांत-पांत, पद-प्रतिष्ठा, अधिकार का ख्याल किये विना पूरी तरह घुलमिल जाते थे। किसी को भी अपने प्रति निर्भय वना लेना उनके लिए सहज था। वह उसके जीवन में इतना उतर जाते थे, उसके पूरे परिवार में इतना घुलमिल जाते थे कि वह हमेशा के लिए उनका ही हो जाता। उसके जीवन में, परिवार में, कार्य में, कैसी ही कठिनाई क्यों न हो, यदि वह कठिनाई अथवा समस्या उसके या उसके आत्मजनों अथवा मित्रों के परे की हो जाती थी तो उसका सारा भार वह अपने ऊपर ले लेते थे, जिससे उसके दिल, दिमाग और रोजाना के व्यवहार में उसे किसी प्रकार की चिंता न रहे और वह अपना काम पूरी दिलचस्पी, लगन, तन्मयता और जवावदारी के साथ विना किसी विघ्न के कर सके।

कार्यकर्ताओं की, नेताओं की और समाज के लब्ध प्रतिष्ठित व्यक्तियों की सामान्य-तौर से ऐसी समस्याएं जो कि वे स्वयं सुलझाने के लिए असमर्थ हों, ऐसी सारी जिम्मेदारियों को चाहे फिर वह किसी की बीमारी की हो, पढ़ाई की हो, विवाह आदि की हो, व्यापार, कर्ज, जमींदारी के झगड़े, सामाजिक, धार्मिक, राष्ट्रीय विचारों और सुधारों को लेकर पारिवारिक अनवन, कटुता, क्लेश या आपस का असंतोष हो, वह सब अपने ऊपर ले लिया करते थे। और उनको आश्वासन दे देते कि आप बेफिक्र हो जाओ और यह सब मुझ पर छोड़ दो। उनका इतना भरोसा दिलाना ही उस व्यक्ति के लिए सारा काम हो जाने के बराबर था। इस तरह अपने काम में दृढ़तापूर्वक जुट जाने के लिए उसे निश्चिन्तता हो जाती थी।

पढ़ाई, बीमारी और अन्य तरह की आर्थिक कठिनाइयों का सुलझाना इतना मुश्किल नहीं होता था। बच्चों के विवाह आदि के प्रश्न कभी-कभी संकट और पेचीदगी पैदा कर देते थे। किसी एक परिवार में बुजुर्गों के साथ सैद्धान्तिक विचारों के मतभेद की वजह से जो क्लेश उत्पन्न हो जाते हैं, उनको दूर करने की समस्याएं अक्सर उलझ जातीं और अत्यंत जटिल हो जातीं। कार्यकर्ता जहां सादा जीवन विताना चाहता हो; लेकिन माता-पिता या अन्य बुजुर्ग उसकी योग्यता के अनुसार आमदनी की दृष्टि से दूसरा धंधा करने के लिए आग्रह रखते हों, वह समाज-सुधार की दृष्टि से हरिजनों के साथ समानता से व्यवहार करना पसन्द करता हो, परिवार के सनातनी गुरुजन उसकी अवहेलना करते हुए परिवार में एक बड़े क्लेश का कारण बन जाते हों, ऐसी सारी जिम्मेदारियों को अपने ऊपर लेकर काकाजी कार्यकर्ता को सर्वथा चिंता-मुक्त कर देते थे।

काकाजी ने छोटे-से-छोटे कार्यकर्ता की खातिर उसके गुरुजनों के बड़े-से-बड़े बोल स्नेह-भाव से सेवा-धर्म समझकर सहज भाव से हँसते-हँसते सहन किये हैं। वस्तुतः सच्चे सुधारक की यही निशानी है। फिर चाहे कितने ही वर्ष उसमें क्यों न लगें, उनको समझाने में अपनी तरफ से किसी प्रकार की कमी नहीं रखते थे। उनके घरों में जाते। आवश्यकता पड़ी तो उनके साथ रहते। उन्हें अपने साथ बुला कर ठहराते। जैसा चाहिए वैसा इंतजाम उनके लिए किया जाता। ऐसा करते हुए उनके अंध-विश्वास को यदि पूरी तरह से दूर न भी कर सके तो कम-से-कम उनके विरोध की तीव्रता में तो फर्क पड़ ही जाता। कालांतर में ऐसे कई

४

सनातनी बुजुर्ग विरोधियों का न केवल विरोध ही दूर करवाया, वल्कि सामाजिक सुधार के ऐसे कार्यों और पारिवारिक प्रेम के लिए उनका पूर्ण सहयोग भी प्राप्त किया।

उनके जीवन में यह एक विशिष्ट कला थी और इस तरह के कार्यों में, जो प्रायः दूसरों को कई वार असंभव प्रतीत होते थे, उन्होंने सफलता भी प्राप्त की। उनको उसमें पूरा रस आता था। ऐसे किसी कार्य में जो समस्या जितनी विकट होती और जितनी कड़ी चुनौती का वह आह्वान करती, उसको सुलझाने में काकाजी को उतनी ही आधिक दिलचस्पी और उत्साह होता। काकाजी द्वारा निपटाये गए झगड़ों में यह कभी किसी ने नहीं कहा कि काकाजी हमारे नहीं थे, या उन्होंने हमारा ख्याल नहीं किया। दूसरों को अपना करने के वजाय वह स्वयं दूसरों के होकर रहते थे।

यह सव स्व-धर्म की तरह वह करते। इसमें उन्हें अपने अधिकार अपनी पद-प्रतिष्ठा तक का ख्याल नहीं रहता था। उसमें उनको आनन्द-ही-आनंद आता। मेरी जानकारी में ऐसा कोई दूसरा व्यक्ति नहीं आया है, जिसे सभी तरह के क्षेत्र के लोगों के व्यक्तित्व की पूरी-पूरी जानकारी रही हो, उनके व उनके पूरे परिवार के साथ जिसका इतना अच्छा परिचय रहा हो और उनके सुख-दुख में वह पूरा भागीदार रहा हो। उनको गये २९ साल[1] हो गए, लेकिन आज भी सुदूर क्षेत्रों में ऐसे एकनिष्ठ कार्यकर्ता मिल जाते हैं जो उनके जाने की कमी को अभी भी महसूस करते हैं।

उदार स्वभाव और विशाल हृदय

काकाजी की जिस विशेषता का सवसे वड़ा असर मेरे दिल पर पड़ा वह थी उनके हृदय की उदारता और विशालता। किसी प्रकार का संकोच उन्हें नहीं

१. काकाजी का स्वर्गवास ११ फरवरी, १९४२ को वर्धा में हुआ था।

था। किसीके भी साथ उनका परायेपन का भाव नहीं था। जिन्होंने वर्षों तक सामाजिक जीवन में उन्हें गालियां दीं, उनके साथ बुरी तरह से पेश आये, उनके खिलाफ सच्चा-झूठा करने में कमी नहीं की, ऐसे लोग भी जब कभी तकलीफ में पड़े तो काकाजी उनकी भी मदद के लिए अपने-आप उनके यहां पहुंच जाते थे। एक कार्यकर्ता काकाजी के मुनीम के भाई थे। लगभग ५० वर्ष से उनके परिवार से संबंध रहा होगा। काकाजी की वजह से ही सामाजिक व राष्ट्रीय कार्य में वह आगे बढ़े और वर्षों तक उनके नेतृत्व में काम करते रहे। जब उनके जीवन में कुछ विकृति आई तो वह काकाजी के खिलाफ हुए और खुले-आम बुरा-भला कहने लगे।

उन्होंने काकाजी के खिलाफ एक किताब लिखी थी। उसको छपाने के लिए उनके पास पैसे नहीं थे। इसका उन्हें क्लेश था। उनका स्वास्थ्य खराब था। काकाजी उनसे मिलने गये तो वह सज्जन हमेशा की तरह रोष में ही मिले पर काकाजी के यह पूछने पर कि आपने अपना स्वास्थ्य ऐसा क्यों कर रखा है और उसकी देखभाल क्यों नहीं करते, तो उन्होंने कहा कि मैंने आपके खिलाफ एक किताब लिखी है। पैसों की कमी की वजह से मैं उसे छपा नहीं सका, इसका मुझे क्लेश है। जबतक उस चिंता से मैं मुक्त नहीं हो जाता, मेरा स्वास्थ्य ठीक नहीं हो सकता।

काकाजी ने उस किताब को छपाने की व्यवस्था करादी और कहा कि निश्चिन्त होकर अपना स्वास्थ्य ठीक करो; इतनी छोटी-सी बात के लिए अपने-आपको इतनी तकलीफ में क्यों डाल लिया! काकाजी ने वह रकम सहायता के तौर पर दी थी, लेकिन उन्होंने उस रकम को कर्ज के रूप में लिया। वह किताब छपी और काकाजी को इस बात से संतोष ही मिला कि उन्होंने अपने एक पुराने साथी के दिल का दर्द दूर करने में मदद की। काकाजी की मृत्यु के बाद वह सज्जन मुझसे कहते रहते कि उन्हें कर्ज चुकाना है। मेरे कहने पर भी कि काकाजी ने मदद ही की थी, कर्ज नहीं दिया, उसे भूल जाइए, पर उनका समाधान नहीं होता था। एक बार फिर जब वह बीमार थे तो मैं उनसे मिलने गया। मुझे देखते ही बोले—"तेरे बाप का कर्ज मुझे चुकाना है।" मैंने कहा—"वे तो रहे नहीं, अब तो वह कर्ज मेरा हो गया। उनका कर्ज आप नहीं रखते, लेकिन मेरा तो रख ही सकते हैं।" वह तुरंत बोले—"हां, तेरा तो मुझे पच सकता है।"

६

●

शादीलाल

छोटे से लेकर वड़े तक—सभी, तरह के लोगों के वच्चों के सैकड़ों की तादाद में वैवाहिक सम्वन्ध उन्होंने करवाये होंगे। कई संबंध तो ऐसे भी होते कि उनकी कल्पना ही उन्हें कैसे आई होगी, लोगों को इसका आश्चर्य होता। जैसे फ्रंटियर के डाक्टर खान साहव के वड़े लड़के सादुल्ला खां का संबंध एक खोजा परिवार की कुमारी सोफिया सोमजी के साथ उन्होंने कराया। मुसलमानों में यह विशेष रूप से एक अन्तर-जातीय विवाह था, जो दोनों परिवारों के गुरुजनों की पूरी सम्मति, प्रसन्नता और आशीर्वाद से हुआ और जिसे गांधीजी का भी आशीर्वाद प्राप्त था।

इसी तरह अनेक ऐसे संबंध वताये जा सकते हैं जो अपने ढंग के अनूठे और किसी की भी कल्पना के परे होते हुए भी वहुत अच्छे और सफल संबंध माने गए। पिताजी अपनी डायरी में ऐसी एक सूची भी वनाकर रखते थे। उसमें एक तरफ ऐसे लड़कों के और दूसरी तरफ ऐसी लड़कियों के नाम रहते थे कि जिनके संबंध के विषय में लड़का-लड़की ढूंढ़ने होते। उनकी क्या समस्याएं हैं, लड़के-लड़कियों की और उनके परिवार के लोगों की क्या अपेक्षाएं अथवा शर्तें हैं, इन सवका उन्हें ख्याल रहता।

वर्धा में एक वार काकाजी के कमरे में किसी काम से सरदार पटेल चले गए। काकाजी वहां नहीं थे। लेकिन उनकी डायरी पड़ी थी। सरदार ने उसे उठा कर देखा। उसके अंतिम पन्नों पर विवाह योग्य लड़के-लड़कियों की सूची भी देखी तो लड़कों की सूची में नीचे अपने ही हाथ से उन्होंने 'वल्लभभाई पटेल' लिख दिया और चुपचाप चले गए; किसी से भी जिक्र नहीं किया।

काकाजी अपनी निजी डायरी नियमानुसार रोज लिखा करते थे। परन्तु डायरी के पीछे लिखी सूची को रोजाना देखने की आवश्यकता नहीं होने से कुछ रोज तक उन्हें शायद पता ही नहीं लगा कि सरदार ने क्या मजाक किया है। जव उन्हें ख्याल में आया भी, तव भी वह चुप ही रहे।

कुछ दिनों वाद जव सरदार से रहा नहीं गया तो भोजन की पंगत में बैठे उन्होंने ने काकाजी से व्यंग भरी चुनौती के स्वर में पूछा : "क्या आप रोजाना डायरी लिखते हैं?"

काकाजी शायद ऐसे मौके की ताक में ही थे। सरदार के पूछने का कारण समझते हुए और उन्हें डायरी वाली वात का कुछ भी ज्ञान है, इसको जाहिर न करते हुए सहज भाव से उन्होंने इतना ही कहा, "शायद!"

इस पर सरदार ने पूरे भरोसे के साथ कहा कि आप डायरी नियमित रूप से विल्कुल नहीं लिखते हैं।

काकाजी ने फिर भी वड़े शांत और स्थिर भाव से सरलता के साथ इतना ही कहा, "हो सकता है!"

परन्तु सरदार इतने से माननेवाले थोड़े थे। आवाज को और भी बुलन्द करते हुए बोले, "गांधीजी के बेटे तो वन गए, पर उनकी जिम्मेदारियों को निभाना आसान नहीं है। 'शायद' और 'हो सकता है' इस तरह की भाषा क्यों इस्तेमाल करते हो? जव आप डायरी रोज नहीं लिखते तो सीधी तरह से कवूल क्यों नहीं कर लेते?"

सरदार चाहते थे कि काकाजी को उकसा दें। पर काकाजी ने उसी शांतभाव से विना किसी तरह के अस्थिर भाव को प्रकट किये, इतना ही पूछा कि क्या आपके पास इसका कोई प्रमाण है कि मैं डायरी नियमित रूप से नहीं लिखता?

सरदार को पूरा भरोसा था कि काकाजी ने डायरी में उनका लिखा हुआ नाम देखा नहीं है। इसी भरोसे पर वड़ी दृढ़ता और गर्व के साथ बोले, "हां, प्रमाण है तभी तो!"

पंक्ति में बैठे हुए सभी लोग शुरू-शुरू में समझ रहे थे कि कोई मजाक की ही वात है। पर वातावरण अव काफी गंभीर हो चुका था। किसी को बीच में बोलने की हिम्मत ही नहीं हुई। सरदार ने उलाहना देते हुए काकाजी पर जोरदार आरोप लगाया कि आप जिम्मेदारियां तो ले लेते हैं, लेकिन उनको निभाते नहीं। दूसरों के मन की बेचैनी, आतुरता और क्षोभ का आप विल्कुल ख्याल नहीं करते। उनके साथ आपकी किसी तरह की हमदर्दी नहीं। आप कठोर हैं। निर्दयी हैं, आदि।

काकाजी ने फिर उसी ठंढे दिमाग से, चेहरे पर पहली वार ज़रा से स्मित हास्य लाते हुए कवूल किया कि "हां, यह तो सव-कुछ हो सकता है। परन्तु फिर भी आपके पास कोई उदाहरण है कि जिसके लिए मुझे ध्यान देना

चाहिए था और वैसा में न कर पाया हूं तो वताइए।"

काकाजी के इस स्मित-हास्य से सरदार शायद कुछ भांप तो गए कि डायरी में लिखे नाम की वावत उन्हें पता है। फिर भी चट से बोले, "मुझे मालूम है; इतना ही नहीं मैं स्वयं इसका शिकार हूं और दुखी हूं। आपको उसकी क्या परवाह पड़ी है? आपको कभी दया भी आती है?" आदि कुछ इसी तरह के वाक्य वह बोल गए। वातावरण कुछ हलका तो हो गया था, लेकिन लोगों की उत्सुकता और उनकी असमंजसता काफी वढ़ गई; क्योंकि कोई समझ नहीं पा रहा था कि असल में वात क्या है?

काकाजी ने ऐसा कुछ कहा कि आपकी समस्या के निराकरण की वात तो सोची जा सकती है; पर उससे आपका दुख कम होगा या वढ़ेगा, वह अलग वात है। आपने मणीवहन की मंजूरी ले ली है क्या? मंजूरी मिलने पर ही आगे विचार हो सकता है।

सरदार के लिए यह किश्त मात थी। वह समझ गए कि काकाजी को वात तो मालूम हो गई है पर चुप रहे। वाद में किस्सा तो पूरा वाहर आना ही था। जव सवको पता चला कि सरदार ने क्या मज़ाक किया था तो अट्टहास के साथ सव हँस पड़े और उस खिलखिलाहट से वातावरण विल्कुल हलका वन गया। भोजन के वाद जव लोग विखरे तो इसी विषय की आपस में चर्चा करते रहे। उसका सार यही था कि सरदार ने मज़ाक वड़ा मीठा किया था, लेकिन आखिर वनिया ही तेज निकला।

इस कारण नेतागण, स्नेही-जन और निजी संपर्क के लोग काकाजी को आपसी वार्ता में 'शादीलाल' कहकर संबोधित किया करते। और वाद में तो यह उपाधि काफी चल पड़ी थी।

●

विवेकशील गुरु

१

काकाजी का व्यवहार विनयपूर्ण और विवेकपूर्ण होता था। जाति-धर्म या छोटे-वड़े का फर्क करना उनके स्वभाव में नहीं था। वह छोटे-बड़े सभी का

आदर और आतिथ्य करते थे। उनका व्यवहार मोह और भय से रहित था। अपने उसूलों पर वह दृढ़ रहते थे। यदि दूसरे के उसूल उनके खिलाफ होते तो उसको उसके उसूलों पर दृढ़ रहने में मदद करते थे। मेरा ही एक किस्सा है। १०-१२ वर्ष की मेरी उम्र होगी। घरवालों या स्कूल के अध्यापकों द्वारा काकाजी को शिकायत की गई कि मेरी दोस्ती एक वदमाश लड़के के साथ है जिसे गाली देने, चोरी करने और झूठ बोलने की आदत है। काकाजी ने मुझे बुलाया और पूछा कि क्या तुम्हारी उस लड़के के साथ दोस्ती है?

मैंने कहा, "हां।"

उन्होंने पूछा, "क्या तुमको मालूम है कि वह लड़का बुरा है?"

मैं बोला, "हां, उसकी कुछ बुराइयों का मुझे ख्याल है।"

उन्होंने कहा, "ऐसी बुरी संगत में तुम क्यों रहते हो? उससे तुम्हारे ऊपर बुरा असर पड़ेगा।"

मैंने कहा, "मुझे उसकी वहादुरी अच्छी लगती है, और खेल-कूद में भी वह होशियार है। वह मुझे भाता है। उसमें जो बुराइयां हैं, उनको दूर करने की तरफ आप लोग ध्यान दें, तो उसका सुधरना मुश्किल नहीं होगा।"

काकाजी ने कहा, "वह तो ठीक है, लेकिन तुम्हें वुरी संगत में रहने की क्या जरूरत? आखिर उसकी संगत का प्रभाव तो पड़ेगा ही।"

मैंने कहा, "आखिर बुरे लड़कों को अच्छी संगत कैसे मिलेगी? वे कहां जांय? उन्हें सुधरने का मौका कैसे मिलेगा?"

यद्यपि मैं छोटा था और अध्यापक जवकि उस लड़के से वहुत निराश हो चुके थे, फिर भी काकाजी ने कहा कि जव तुम्हें इतना ख्याल है तो तुम्हारे वारे में मुझे कोई डर नहीं। साथ ही यह भी कहा कि उसकी बुरी आदतों को छुड़ाने में मैं उसकी मदद करूंगा और उसका गलत वचाव किसी तरह से नहीं करूंगा। काकाजी ने उस लड़के को बुलवाया और उससे बात की।

उस लड़के ने गाली देने और झूठ बोलने के विषय में अपनी कमजोरी कबूल की, लेकिन चोरी वह नहीं करता है, ऐसा उसने कहा। उसके कहने में कुछ तथ्य था। क्योंकि जिन चोरियों में उसका नाम लगाया गया था उनमें से अधिकतर या तो उसने की नहीं थीं, या की थीं तो ऐसे लड़कों की ही कीं, जिन्होंने दूसरों का माल ले लिया था और वह उसने चुराकर या छीनकर जिनकी

वस्तुएं थीं, उनको लौटा दी थीं। वह उसे चोरी नहीं समझता था। काकाजी के पूछने पर कि तुम झूठ क्यों बोलते हो, उसने कहा कि घरवाले उसे खेलने को नहीं जाने देते, दोस्तों के साथ रहने नहीं देते, तो उसे झूठ बोलना पड़ता है। स्कूल का अभ्यास न करने पर भी झूठ बोलना पड़ता है।

काकाजी ने उसकी सारी बातों को अच्छी तरह से समझा। उसके घरवालों व अध्यापकों को बुलाकर जो कुछ समझाना था, समझाया और उस लड़के से कहा कि तुम्हारी झूठ बोलने की आदत मिट जानी चाहिए। गाली देने की उसकी मंशा नहीं होती थी। अनजाने में ही ज़बान पर वह आ जाती थी। काकाजी ने उसे इसका गुर बताया कि गाली निकलते ही अपने कान पकड़ लिया करो। यह भी कहा कि अगर तुम्हें ध्यान में यह न आये तो तुम्हारे साथी तुम्हारा कान पकड़ेंगे और इसमें तुम्हें ऐतराज नहीं होगा। छः महीने के अंदर तुम्हारी आदत बिल्कुल नहीं सुधरी तो तुम्हारे सारे दोस्तों को बुलाकर मैं कहूंगा कि वे तुम्हारे साथ दोस्ती छोड़ दें और काकाजी ने यह जिम्मेदारी मुझपर डाली। मेरी बात उन्होंने रखी और उसकी जिम्मेदारी मुझ पर डाली इसका मुझे गर्व रहा और किसी की बुराई को दूर करने में मेरी मदद होगी, इसकी खुशी भी। बाद में उस लड़के के जीवन में फर्क पड़ा।

पिताजी बच्चों में बैठते थे तो बच्चों के समान ही हो जाते थे। उनके साथ कई तरह के खेल खेलते थे। शतरंज, ताश के खेल भी उन्हें सिखाते, जिससे उनकी बुद्धि का विकास हो, उनकी समझ, सोचने और याद रखने की शक्ति बढ़े तथा इस तरह के खेल खेलते और नये-नये खेलों का आविष्कार भी करते।

एक बार पूना से हम सब लोग घूमने सिंहगढ़ गये थे। थोड़ा घूमने के बाद एक पेड़ की छांह में काकाजी बैठ गए। जिन्होंने किला पहले देख रखा था वे भी साथ बैठ गए। वहां बैठे-बैठे उन्होंने एक नया खेल शुरू किया और इसके लिए नियम भी बना दिये कि वहां जो लोग उपस्थित हैं वे अपनी-अपनी बारी आने पर वहां बैठे किसी भी व्यक्ति का नाम लेकर उससे अपनी तुलना करें और उससे वह किन बातों में श्रेष्ठ हैं, यह बतायें। जो सबसे अच्छी तरह बतायेगा उसका पहला नम्बर होगा। जो कुछ वह कहे उसमें सत्यांश होना चाहिए और किसी को यदि वह बात गलत लगे तो वह उस पर ऐतराज कर सकता है। आपत्ति उठाने पर या तो तुलना करनेवाला व्यक्ति उस ऐतराज को मान जाय अथवा

११

उसके जवाव देने पर, जिसने आपत्ति उठाई हो वह मान जाय और दूसरों का भी समाधान हो जाय, अथवा जिसके साथ तुलना की गई वह मान जाय तव तो कहने वाले की वात रही, अन्यथा उसकी वात सही है या नहीं, इस पर राय ले ली जाय और वहुमत से जो तय हो वही निर्णय माना जाय। इस खेल से बुद्धि के विकास के साथ-साथ मनुष्य-स्वभाव और उसके गुण-दोष समझने व सोचने की शक्ति अच्छी तरह खिलती है।

खेल की शुरुआत हुई। और अचानक ही मेरी बारी आगई। मैं कुछ दूसरे ही विचारों में था। कुछ सोच नहीं पाया था। फिर भी अचानक ही मैंने कहा कि तुलना श्री जमनालालजी वजाज से होगी। कुछ मोटी-मोटी वातें जो मेरे पक्ष थीं, वे मैंने कहीं, जैसे कि उन्होंने सिर्फ देश का ही भ्रमण किया है और मैंने विदेश का भी भ्रमण किया है। दौड़ में मैं उनसे तेज हूं। इस तरह की वातों का किसी ने प्रतिकार नहीं किया। अंत में मैंने कहा कि इनके पिताजी से मेरे पिताजी अच्छे हैं। इसका भी किसी ने प्रतिकार नहीं किया। फिर मैंने कहा कि इनकी संतान से मेरी संतान अच्छी है। उस समय मेरा लड़का राहुल मुश्किल से साल भर का होगा और उससे सवको प्यार होना स्वाभाविक ही था। तुरंत ही किसी ने आपत्ति उठाई और कहा कि तुम यह कैसे कह सकते हो कि तुम्हारा लड़का इनके लड़के से अच्छा है? इसपर मैंने कहा कि काकाजी यह कह दें और आप सव लोग मान लें कि इनका ही लड़का अच्छा है और मेरा नहीं, तो मुझे कोई आपत्ति नहीं होगी। काकाजी को वह कबूल नहीं हुआ। होता भी कैसे? ऐतराज करनेवाला समझ गया कि उसने गलत ऐतराज किया था। एक वर्ष के वालक को मुझसे बुरा वह भला कैसे मंजूर करते? मेरी शैतानी को वह समझ रहे थे। वस, हँस भर दिया। आगे मैंने कहा कि यह माना भी जाय कि उनका लड़का अच्छा है और मेरा नहीं; तव भी उनके लड़के को खराव करना तो मेरे हाथ में है, चाहे जितना उसको खराव कर सकता हूं, लेकिन वह मेरे लड़के का कुछ नहीं कर सकते हैं। और इस तरह से मेरी ही वात रह गई।

पिता-पुत्र का विलक्षण संबंध

काकाजी को मेरे प्रति तीन शिकायतें मुख्य रहीं—कि मैं आलसी हूं, असभ्य हूं और अविवेकी हूं। लेकिन साथ ही वह यह भी कहते थे कि मुझ में बुद्धि और हिम्मत है और सूझ-बूझ भी अच्छी है। लेकिन उसका पूरा उपयोग तुम्हारी कमजोरियों की वजह से नहीं हो पाता। इसका उन्हें वड़ा असंतोष रहता था, जिसका जिक्र उन्होंने मेरे साथ हुए अपने पत्र-व्यवहार में जगह-जगह किया है। फिर भी ऊपर आये किस्से के होने पर उन्होंने कई लोगों से कहा कि "आज तो कमल ने बुद्धिमत्ता और विवेक का खासा परिचय दिया। उसका कहने का ढंग भी मज़ेदार था और सूझ-बूझ भी अच्छी थी।"

अपने पिता के साथ इस तरह का उन्मुक्त वार्तालाप या विनोद करने का सौभाग्य विरले पुत्रों को ही मिला होगा। यह सव कुछ होने का मुख्य कारण था काकाजी की सहृदयता और पिता होने पर भी अपने वच्चों को निर्भय वनाने व अच्छे संस्कार डालने का उनका प्रयास। यदि आपस के सम्वन्ध में किसी प्रकार का अन्तर रहता या संकोच होता तो इस तरह का वातावरण वन ही नहीं सकता था कि जिसमें इतनी निर्भयता और स्पष्टता से इस तरह की छूट ली जा सके।

हम सव वच्चों से और दूसरों के वच्चों से भी, काकाजी खुलकर वात करते थे। उनके हृदय की वात जानने की कोशिश करते थे। उन्होंने कभी कोई वात हम पर लादी नहीं। कोई वात उन्हें कबूल नहीं होती थी तो उसका आग्रह नहीं करते थे। हां, इस वात को अवश्य दुहराते कि विनोवा या वापू को संतोष करा दो तो उन्हें समाधान या संतोष कराने की जरूरत नहीं। हम वच्चों की कमजोरियां दूर करने के लिए भी समझाने के अलावा उसी तरह की अपनी कमजोरी को दूर करने का वह प्रयत्न करते। वह यह कहते भी कि कमजोरी तो मुझसे ही तुम लोगों में आई है। तुम लोगों का तो जीवन अव वनना है, तो इससे वचो। उसके लिए रास्ता भी वताते।

मेरे आलस्य को दूर करने के लिए उन्होंने वहुत प्रयत्न किया और जव उन्होंने देखा कि मुझ पर विशेष असर नहीं पड़ रहा है, मैं उसके प्रति अलमस्त

और बेफिक्र हूं तो फिर उन्होंने मेरे ऊपर काम का बोझ डाल दिया। काम मैं भूत की तरह करता और उसमें मुझे समय या आराम का भी कभी ख्याल नहीं रहा। पर जहां अवकाश मिला कि तो वह स्वभाव उसी तरह प्रकट होता। उसका क्या इलाज हो, यह काकाजी के लिए समस्या वनी रहती। आखिर में उन्होंने स्वयं अपने आलस्य को छोड़ने के लिए नियम वनाये। खाने पर भी संयम रहे, इसका ख्याल करके उसे भी नियमों में शामिल किया। उसके परिणाम-स्वरूप वह तो अपने आलस्य पर कावू कर सके और अपने जीवन के उत्तरार्द्ध में वह कभी आलसी रहे हों, ऐसा कोई नहीं कह सकता। लेकिन मेरे आलस्य पर उसका भी कोई विशेष परिणाम नहीं पड़ा। इसका असली कारण यही रहा कि मुझे यह वात इतनी तीव्रता से लगी ही नहीं कि मुझे आलस्य को दूर करना है। यह मैं काकाजी से कहता भी रहा। साथ ही मेरा मानना था कि आलस्य सिर्फ शारीरिक ही नहीं होता। जव होता है तव बौद्धिक और मानसिक भी होता है। काकाजी मानते थे कि मेरी बुद्धि सतर्क है और जागृत भी। उसमें यदि आलस्य का समावेश न भी हो तव भी शारीरिक आलस्य की वजह से आगे जाकर उसमें भी शिथिलता हो सकती है। इसलिए इस बीमारी को, जहां कहीं भी वह हो, दूर करना चाहिए। इस वात में तथ्य है, ऐसा समझते हुए भी मुझ पर इसका उतना गहरा असर नहीं पड़ा, यह स्पष्ट है।

मैं १६ साल का हुआ तव मैं अल्मोड़ा में था और काकाजी से दूर ही था। वहीं पर सत्याग्रह में पकड़ा गया और जेल हुई। वहां से छूटने पर पहली वार जव मैं काकाजी से मिलने धुलिया जेल में गया तो उन्होंने कहा कि "अव १७ साल की तुम्हारी उम्र हो गई और हमारे शास्त्रों में लिखा है कि 'प्राप्तेतु षोडशे वर्षे, पुत्रं मित्रवदाचरेत्।' तो अव तुम जो कुछ अपने मन से करना चाहो उसके लिए स्वतंत्र हो। मेरी सलाह मांगोगे तो दूंगा। मुझे कुछ कहने की जंचेगी तो कहूंगा, लेकिन तुम्हें किसी प्रकार का संकोच रखने की जरूरत नहीं है। जैसा जीवन तुम्हें वनाना है या जो कुछ करना है, वह निर्भयता और विना किसी संकोच के साथ कर सकते हो।"

१४ इसके वाद काकाजी जव जेल से छूटकर आये तो घरेलू, व्यापारिक, सामाजिक, राष्ट्रीय आन्दोलन आदि की जो भी समस्याएं उनके सामने आतीं, उन पर तो मेरे साथ विचार-विनिमय करते ही, साथ ही अपने व्यक्तिगत जीवन के सम्बन्ध में भी मुझसे चर्चा करते, अपने दोषों को वताते और उनको किस तरह से दूर

करना चाहिए, इसके लिए राय भी लेते। एकाध वार मैंने उनसे कहा भी कि इस तरह की चर्चा आप मुझसे क्यों करते हैं? आपको इन वातों में कुछ समझना-वूझना हो तो विनोवा और वापू से चर्चा करें। इस पर उनका कहना था कि वह तो ठीक है, पर उतना ही पर्याप्त नहीं। जहां भी अपनी श्रद्धा हो, मनुष्य अपनी कमजोरी को कह सकता है और अपने से छोटों को भी विश्वास में लाकर चर्चा करने से उसमें एक नये दृष्टिकोण का ख्याल भी आ सकता है। साथ ही उससे हिम्मत और दूसरे के प्रति प्रेम वढ़ता है। ऐसे व्यवहार से वड़ों का अहंकार कम होता है और छोटों को सीखने को मिलता है।

उन्होंने अपने माने हुए परिवार की एक सूची वनाई हुई थी। जिसमें सभी तरह के रिश्ते—पिता, पुत्र, वहन, भाई, मित्र आदि शामिल थे। उसमें पुत्र के स्थान पर मेरा नाम नहीं था। क्योंकि उस नाते मुझसे अधिक समाधान उनको राधाकृष्ण और रामकृष्ण से मिला था। मैं आज्ञा जरूर मानता था और उन्हें यह भरोसा भी था कि मुझे कुछ कहा गया तो मैं पूरी तरह से करूंगा भी पर मेरी वृत्ति और स्वभाव दोनों ही स्वतंत्र थे, इसलिए मेरा व्यक्तित्व अलग पड़ जाता था। इसी तरह रिश्तों को मानने में हमारे यहां की नौकरानी का भी उन्होंने माता के स्थान के लिए विचार किया था। माता की कमी को वह उसके द्वारा कुछ वातों में पूरा कर सकते थे। फिर भी पूरा समाधान उनको माता आनन्दमयी को प्राप्त करके ही हुआ। ये जो निजी रिश्ते उन्होंने वना रखे थे, उनसे तथा कुछ अन्य लोगों से भी, जिनमें मेरा भी समावेश वह कर लेते थे, अपने व्यक्तिगत जीवन के वारे में पूरी चर्चा करते। खासकर अपने जन्म-दिन के उपलक्ष्य में वह अपने गुण-दोषों का हिसाव लगाते और उसका आंकड़ा तैयार करते और इस वात को जांचते कि उनके दोषों में कितनी मात्रा कम हुई है और इस वारे में चर्चा करके अथवा पत्रों द्वारा यह पूछते और जानना चाहते कि उनके दोषों में क्या फर्क पड़ा है। अपने बुजुर्गों से भी वह इसकी चर्चा करते। दोषों में खासकर काम, क्रोध, मद, लोभ और मोह का ही विशेष विचार करते। दूसरे छोटे दोषों का भी हिसाव लगाते। दोषों के बारे में हिसाब का चिट्ठा मृत्यु के कुछ ही महीने पूर्व भी उन्होंने वनाया था और उससे उन्हें यह लगा था कि काम की मात्रा कुछ वढ़ी है और जैसा चाहते थे वैसा अपने मन पर वह काबू नहीं पा सके हैं। इस दृष्टि से उनका विचार हुआ था कि वह सार्वजनिक कामों से छुटकारा लेकर आत्मो-

१५

न्नति की तरफ ध्यान दें और कुछ इस तरह का कार्य करें कि जो देश के विकास के साथ-साथ आत्मोन्नति के रास्ते में भी सहायक हो। इसकी चर्चा वह कुछ वर्षों पहले से ही कर रहे थे। पर किसी-न-किसी कारणवश उनको कांग्रेस की कार्यकारिणी तथा सार्वजनिक कामों में से अलग नहीं होने दिया गया। गांधी-सेवा-संघ के अध्यक्ष के पद को भी इसी कारण से उन्होंने छोड़ा था।

•

'लघु ना दीजे डारि'

काकाजी छोटे-से-छोटे आदमी स भी काफी महत्व की वातों में सलाह लिया करते थे। मेरे ही विवाह-सम्वन्ध की वात है। एक लड़कीवालों के यहां हम लोग ठहरे हुए थे। काकाजी का निजी सेवक नानूजाट (जिसने ४५-५० साल तक उनकी सेवा की और जिसको उसकी मृत्युपर्यन्त पेंशन मिलती रही व उसके परिवार के लोग अव भी हम लोगों के पास हैं) भी साथ था। पिताजी ने उसको बुलाकर पूछा कि लड़की और घर की दृष्टि से यह संबंध उसको कैसा लगता है! इस पर उसने इतना ही कहा कि और वातें तो आपने समझ ही ली होंगी, लेकिन इनके यहां जितने नौकर हैं वे सभी कम-से-कम २५-३० साल पुराने हैं। यदि कुटुम्व में आत्मीयता और प्रेम के संस्कार आदि नहीं होते तो इतने लम्वे अर्से तक नौकरों का टिकना संभव नहीं होता। काकाजी पर उसकी इस वात का काफी असर पड़ा, जिसकी हमें अन्यथा जानकारी नहीं होती। संस्कार नहीं थे, इसलिए वह सम्वन्ध नहीं हो सका, वह वात अलग है।

•

'मैं होता तो क्या करता ?'

१६

एक वार मैंने काकाजी से पूछा कि आपकी सलाह के अनुसार लोग काम कर सकें या न कर सकें, लेकिन उस सलाह के विषय में बुरा नहीं मानते, आपको खरा-

खोटा नहीं कहते, इसका क्या कारण है? इसपर उन्होंने कहा था—"चाहे जिस किसी का मसला हो, आदमी छोटा हो या बड़ा हो, स्त्री हो या पुरुष, अमीर हो या गरीब, उसको सलाह देने के पूर्व मैं अपने-आपको उसी की स्थिति में महसूस करता हूं और वैसी हालत में मैं खुद क्या करने को तैयार होता और क्या करना मेरे लिए अच्छा होगा, उसीके आधार पर मैं उसे सलाह देता हूं। साथ ही इस बात का भी ख्याल करता हूं कि उस सलाह का पालन करने में उसे क्या-क्या कठिनाई आ सकती है और उन कठिनाइयों को किस प्रकार दूर किया जा सकता है। सलाह अच्छी हो सकती है, लेकिन उस पर वह बोझ रूप नहीं होनी चाहिए। उसकी प्रतिष्ठा की दृष्टि से, आमदनी की दृष्टि से यदि पालन करने में भारी पड़े तो नेक सलाह होते हुए भी वह कष्टदायक हो सकती है। साथ ही, मैं बड़ा हूं और मैंने जो सलाह दी है, इसलिए उसको मानना ही चाहिए, इसका आग्रह भी मैं नहीं रखता। हमेशा मैं पूरी तरह से सफल होता हूं ऐसा तो नहीं, फिर भी इन्सान की सचाई और उसके इरादे गलत समझ भी लिये गए तो समय पाकर वे सामने आ ही जाते हैं और अपनी जिस दर्जे तक गलती रही हो, उस दर्जे तक उसको दूर करने में खुशी ही होती है। शायद इन्हीं सब कारणों से लोगों का प्रेम और विश्वास मैं कुछ पा सका हूं और यही वजह हो सकती है कि लोग मेरी सलाह और व्यवहार को उदारता के साथ ग्रहण करते रहे हैं।"

मुझे याद आता है, कोई ३० वर्ष पुरानी बात होगी। श्री देवदासभाई ने अपने किसी नज़दीक के रिश्तेदार को बातचीत के दौरान में कुछ हिदायतें दीं कि किस तरह से उनको रहना चाहिए और कैसे क्या करना चाहिए। काकाजी को भी इसका पता लगा। उस कुटुम्ब के पालन-पोषण, विवाह आदि में काकाजी की पूरी मदद और सहयोग रहा। वह उनकी परिस्थिति से वाकिफ थे। मिलने पर देवदास भाई को एक मीठा-सा उलाहना काकाजी ने दिया और कहा, "तुमने उनको सलाह तो नेक दी, लेकिन क्या तुमने इस बात का भी ख्याल किया कि उस सलाह को मानने में कितना बोझा उनपर पड़ सकता है? तुम्हारा इरादा अच्छा था, सलाह भी नेक थी, लेकिन व्यवहारोचित नहीं थी।" देवदासभाई ने कबूल किया कि सहज भाव से उन्हें लगा सो उन्होंने कह दिया। इसका उन्हें ख्याल नहीं रहा कि उनकी आर्थिक स्थिति कैसी-क्या है और उनपर कितना विशेष बोझ पड़ जायगा।

गांधी-इरविन पैक्ट हो चुका था। सत्याग्रह-आन्दोलन वापस ले लिया गया था। मेरी पढ़ाई की दृष्टि से आगे विचार करना था। मैं अंग्रेजी समझ तो लेता था लेकिन लिखने-पढ़ने का अभ्यास नहीं के बराबर था। उसे सीखने की इच्छा थी ही। मुझ पर ही नहीं, पूरे परिवार पर बापूजी और उनके विचारों का काफी प्रभाव पड़ चुका था। यद्यपि मैं बचपन से ही स्वतंत्र विचार का रहा, फिर भी बापूजी की बातें बड़ी अच्छी लगती थीं। बापू, विनोबा और काकाजी से यों मैं काफी झगड़ता रहता था, फिर भी इन तीनों का मुझपर अत्यधिक असर था। मैं चाहता था कि गांधी-विचार को उनके बताये हुए सत्य और जीवन के तथ्य में अच्छी तरह से समझ लूं और उनको समझने के लिए मैं ऐसी जगह रहूं जहां दूसरे विचारों का अध्ययन भी कर सकूं। वहां के वातावरण में गांधीजी के विचारों, का सीधा असर नहीं रहा हो ताकि गांधीजी के विचारों की दूर से नाप-तौल कर सकूं और अन्य विचारों की तुलना के साथ अपना स्वतंत्र निर्णय, ऐसी अवस्था के पहले, मैं कर सकूं जबकि जीवन में यदि कुछ मूलभूत परिवर्तन करना पड़े तो मुश्किल न हो।

शैक्षणिक ढंग से मेरी कुछ पढ़ाई हुई नहीं थी। स्कूल में पढ़ने के लिए मैं बहुत कम गया था और जब गया भी तो मेरा वहां मन नहीं लगा। मेरा असली शिक्षण व्यक्तियों के सम्पर्क और उनके जीवन को देखकर ही हुआ। न मैं पढ़ा हुआ था, न पढ़ने का तरीका मुझे आता था। मैंने काकाजी को बताया कि मैं स्वयं अपने बारे में किस तरह से सोच रहा हूं। काकाजी ने कई प्रतिभाशाली विद्यार्थियों को अपनी तरफ से सहायता देकर और दूसरों से भी दिलवाकर विदेश भिजवाया।

मैं जानता था कि भारतवर्ष में ऐसा कोई स्थान मेरे लिए नहीं हो सकता था जहां पर बापूजी और काकाजी के व्यक्तित्व और विचार-प्रभाव से अलग रहकर, मैं जिस तरह से चाहता था, अध्ययन कर सकूंगा। जब काकाजी को मैंने अपनी यह इच्छा बताई तो उन्होंने सीधा सवाल किया, "तुम्हें विदेश क्यों भेजा जाय? तुम पढ़ाई में कोई होशियार नहीं हो और देश का इतना पैसा खर्च करके कौन-सा ऐसा लाभ तुम लेकर आओगे, जिससे अपने लोगों को या देश को फायदा पहुंचे। अपने पास पैसा है इसीलिए तुम विदेश जाओ, यह तो वाजिब नहीं। यदि तुमसे ऐसी कोई आशा हो कि जो कुछ तुम पर खर्च किया जायगा

उससे विशेष लाभ देश या समाज को मिलनेवाला है तो उस तरह का खर्च करने में खुशी हो सकती थी। अन्यथा वह धन का गर्व, विदेश जाने की जिज्ञासा और मोह तथा एक प्रकार का प्रमाद मात्र ही होगा।"

मैंने उनसे कहा, "आपका कहना विल्कुल ठीक है। मुझे केवल इसीलिए नहीं भेजा जाय कि मैं आपका बेटा हूं। लेकिन मेरे सामने सवाल यह है कि मेरा जीवन पूरी तरह से ढले उसके पहले गांधीजी के विचार और आचार के प्रभाव से दूर रहकर मैं उन्हें अच्छी तरह से समझ लेना चाहता हूं। आज मुझे वे अच्छे जरूर लगते हैं, और ऐसा मेरा विश्वास है कि आगे भी अच्छे लगेंगे। फिर भी अच्छा यह है कि दूर रहकर उनका मनन किया जाय और अन्य विचारों से भी उन्हें मिला कर देखा जाय। अगर भारत में ही मुझे आप वापू के प्रभाव से दूर रख सकते हों और साथ ही अंग्रेजी के अध्ययन की भी सुविधा हो सकती हो, तो आप मुझे विदेश भेजें, इसका मुझे आग्रह नहीं है। क्योंकि वहां जाने की मुझे विशेष लालसा भी नहीं है।

काकाजी पर मेरी वात का असर पड़ा। सारी वातें वापूजी के पास गईं। मैंने उनसे कहा, "आप जो भी निर्णय करें उस निर्णय के प्रति मुझे किसी प्रकार की उदासीनता या विरोध का तो सवाल ही नहीं होगा। वह मुझे सहर्ष स्वीकार होगा। आप जो भी निर्णय करें, उसमें मेरी वजह से किसी प्रकार का बुरा परिणाम होने की गुंजायश भी नहीं है। परन्तु यह मैं नहीं कह सकता कि विदेश जाने का निर्णय हुआ तो वहां जाने पर उसका मुझपर क्या परिणाम होगा। मैंने तो जो कुछ मुझे लगा और जो मैंने सोचा वह आपको कह दिया है। इसके वाद मैं निश्चिन्त हूं।"

इसके वाद जो निर्णय हुआ उसके अनुसार कोई साल-डेढ़-साल तक हिन्दुस्तान में रहकर मैं एक ऐसे स्कूल में पढ़ा, जहां का वातावरण शांतिनिकेतन पर आधारित था। वाद में साल भर सीलोन में भी रहा और उसके वाद विदेश गया। विदेश जाते समय भी मैंने यहां की ऐसी कोई परीक्षा पास नहीं की थी, जिससे वहां के विश्वविद्यालयों में दाखिल हो सकता। काकाजी ने यह भी नहीं पूछा कि तुम क्या करके आओगे, कितने अरसे में आओगे और कहां जाओगे। जाने के पूर्व यह पूछा कि कुछ परिचय-पत्र ले जाना हो तो बापू, जवाहरलालजी और वह स्वयं भी दे सकते हैं। मैंने कहा कि अभी

१९

तो कोई आवश्यकता मुझे प्रतीत नहीं होती। जरूरत होगी तो मंगवा लूंगा।

मैंने अपनी तरफ से इतना ही आश्वासन दिया, और वह भी विना मांगे और अपनी खुद की भलाई को देखते हुए, कि "मैं क्या कर पाऊंगा, यह तो नहीं कह सकता, हो सकता है कि जैसा-का-तैसा ही आ जाऊं। तव भी मुझे किसी प्रकार का खेद नहीं होगा। लेकिन किसी भी कारणवश अथवा देश के लिए जरूरत या कर्तव्य लगे, इस नाते या किसी कारण से विदेश में मेरा रहना ठीक न मालूम दे तो उनकी सूचना आते ही मैं जहां कहीं होऊंगा, वहां से सीधा घर लौट आऊंगा। मुझे यह करना वाकी है या वह करना वाकी है, इस तरह के झमेले में नहीं पड़ूंगा।"

आज भी जव मैं अपने-आप पर खर्च करता हूं तो कई दूसरे प्रश्नों के साथ यह विचार भी मेरे मनमें आ जाता है कि क्या यह खर्च मुझे अपने ऊपर करना वाजिव है ? इसका दूसरी तरह अधिक अच्छा उपयोग हो सकता है या नहीं और काकाजी की हिदायत भी सामने खड़ी रहती है। मेरा जीवन जितना परिश्रमी और संयमी होना चाहिए या यों कहूं कि काकाजी की जैसी अपेक्षा थी वैसा मैं नहीं कर पाया। कुछ बेदरकारी, मस्ती, अक्खड़पन और औलियापन स्वभाव में हमेशा से ही रहे हैं। संकोच और डर मुझे कम सताते हैं। इस वृत्ति का एक विशेष आनन्द भी है, फिर भी वह उचित ही है, यह मैं नहीं मानता।

काकाजी किसी भी काम को जव करते तो इसका पूरा ख्याल रखते कि उसका सामनेवाले पर क्या असर पड़ेगा। अपने आराम और सहूलियत के लिए उन्हें कोई काम ऐसा कबूल नहीं होता था, जिसके लिए दूसरों को विशेष कष्ट उठाना पड़े। अपने संयम के लिए वह नियम भी वनाते तो इसका ख्याल रखते कि दूसरों को उनके नियम-पालन की वजह से कोई कष्ट तो नहीं होगा ! अपनी प्रिय वस्तुओं का खाना छोड़ना, घी-शकर वर्जित कर देना, पांच से अधिक चीजों को एक दफा में ग्रहण न करना, जितना भोजन चाहिए उतना एक साथ ही परोसवा लेना आदि कई ऐसे नियम वह लेते रहते थे। कालान्तर में उनमें परिवर्तन भी करते थे, जो इस वात का द्योतक था कि अपने व्यक्तिगत जीवन में संयम और त्याग आदि गुणों की वृद्धि करते हुए भी उन्हें इस बात का

ख्याल रहता था कि जहां कहीं वह जांय तो वहां के लोगों को भी उनके नियमों को पालन कराने में कठिनाई न हो।

०

बैर और फूट

एक वार की वात है, पंजाव-कांग्रेस के नेताओं में कुछ झगड़े हो गए थे। डा० सत्यपाल और डा० किचलू शायद एक-दूसरे से झगड़ बैठे थे। यह मसला कांग्रेस की कार्यकारिणी में गया। उन्होंने काकाजी को झगड़ा निपटाने के लिए पंजाव जाने को कहा। मैं भी उनके साथ था। कांग्रेस कार्यकर्ताओं की काफी भीड़ लाहौर स्टेशन पर उनके स्वागत के लिए आई थी। काकाजी ने पहले से ही खवर भिजवा दी थी कि वह क्या खाते हैं और किस तरह की रहने की व्यवस्था उनको चाहिए। लेकिन जहां उन्हें ठहराया गया था वहां की व्यवस्था आलीशान थी। काकाजी ने जिम्मेदार लोगों को इस वात का उलाहना दिया और जिस तरह की सादी व्यवस्था उन्हें ठहरने के लिए चाहिए थी वैसी तुरन्त करवा ली। इतनी जल्दी और थोड़े ही फेर-फार से कैसे सारा वातावरण सादगी का उन्होंने कर लिया इसका आश्चर्य, जहां हम ठहरे थे, उस घरवालों को तो हुआ ही, लेकिन उसका काफी अच्छा प्रभाव कांग्रेस के कार्यकर्ताओं और नेताओं पर भी पड़ा।

स्नान आदि करने के वाद सव लोगों के साथ नाश्ते के लिए जब बैठे तो उसमें कन्धारी अनार, अंगूर, काश्मीर के सेव आदि तरह-तरह के वाहर से मंगाये हुए फल और मिठाइयां थीं। उन्होंने कहा, "मिठाई तो मैं खाता नहीं और प्रान्त के वाहर से मंगाये हुए फल भी मैं नहीं लेता।" उन दिनों यह भी उनका नियम था और इसकी खवर उन्होंने लिखकर भिजवा दी थी। लोगों ने कहा कि इन दिनों पंजाव में कोई विशेष फल नहीं होता और यही वजह थी कि उनको ऐसे फल लाने पड़े जो कि पंजाव के वाहर के तो हैं, पर मिलते लाहौर के वाजार में ही हैं। काकाजी के आग्रह पर कि आखिर यहां कोई तो स्थानीय फल होंगे ही, किसी ने कहा कि इस समय यहां बेर और फूट के अलावा अन्य कोई दूसरा स्थानीय फल नहीं मिलता।

काकाजी ने झट कहा कि मुझे आप अपने वेर और फूट ही दे दीजिए। मैं तो वे ही ले लूंगा। वाकी का आप सव स्नेह से ग्रहण करें। आपस के झगड़े के वातावरण में इससे अट्टहास हुआ और सारा वातावरण हल्का हो गया।

•

सचाई और सादगी

बाद में कांग्रेस के कार्यकर्ताओं के बीच में बोलते समय उन्होंने इस सारी घटना का जिक्र किया और इस वात के लिए दुख जाहिर किया कि हम कांग्रेस के सेवक कहलाते हैं और गरीबों की सेवा का हम नाम लेते हैं। यदि हम इस तरह की फिजूलखर्ची करते रहे और ऐसी शान व आडम्वर में रहते रहे तो देश की गरीव जनता तक हम कभी नहीं पहुंच सकते, हमारी सेवा एक दम्भ मात्र ही हो जायगी, आदि। कांग्रेस के दोनों पक्षों के नेताओं पर इसका वहुत गहरा असर पड़ा। उन लोगों ने वाद की चर्चाओं में यह कह भी दिया कि वे तो जमनालालजी को एक वड़ा सेठ समझते थे और उनकी शान के लायक आदर-सत्कार कर सकेंगे कि नहीं, इसका उनके मन में कुछ संकोच भी था। लेकिन उनके जीवन की सादगी-सरलता और सचाई को देखकर वे वड़े प्रभावित हुए हैं। दोनों तरफ के लोगों ने आकर झगड़े की जो मूल वात थी वह, और उन्होंने क्या-क्या गलतियां की हैं, यह सव स्पष्ट रूप से उनको वताई। उनको विशेष समझाने की जरूरत नहीं पड़ी। काकाजी की बुद्धि या उनकी प्रतिष्ठा की वनिस्वत उनकी सादगी, सचाई, सरलता और सवके प्रति समभाव ने स्वाभाविक रूप से ही आपस में मेल करा दिया। वाद में आम सभा हुई, जिसमें काकाजी का व्याख्यान तो हुआ ही, साथ ही दोनों पक्षों के नेताओं के एक-दूसरे के प्रति सद्भावनापूर्ण व्याख्यान हुए।

२२

इसका असर जनता और पत्रकारों पर भी वहुत ही अच्छा पड़ा। एक पत्रकार को दूसरों से कहते मैंने सुना कि हम तो समझते थे कि कांग्रेस कार्यकारिणी ने यहां के झगड़ों को सुलझाने के लिए एक वनिये और सेठ को भेजकर क्या वुद्धिमानी की! यहां के झगड़ालू नेता लोग धुरन्धर हैं और किसी अच्छे

वकील-वैरिस्टर के विना यहां का रोग किसी के वस का नहीं। उन्हीं में से किसी ने जवाव दिया कि वात जो तुमने कही वैसी ही कुछ हमको भी लगती थी, परन्तु हमें नहीं भूलना चाहिए कि जमनालालजी गांधीजी के आदमी हैं, और गांधीजी ऐसे-वैसे आदमी को अपने पास फटकने भी नहीं देते। कांग्रेस की प्रतिष्ठा ऐसे ही नेताओं की वजह से हुई है। यों पढ़े-लिखे विद्वान नेता तो वहुतेरे हैं।

काकाजी के जीवन में दिखावट या वनावट छू तक नहीं गई थी। उनके पत्र-व्यवहार भी सीधी-सादी वोलचाल की भाषा में ही होते थे। आज भी उनके पत्र पढ़ें तो ऐसा लगता है मानो काकाजी ही वोल रहे हों। उनकी भाषा में विद्वत्ता नहीं होती थी, वल्कि जीवन की अनुभूति और व्यावहारिक समझदारी रहती थी। दूसरों के दुखदर्द को देखकर वह द्रवित हो जाते थे और किसी को भी सुखी और संतुष्ट पाते तो वड़े प्रसन्न होते। ईर्ष्या और द्वेष उन्हें शायद ही किसी का हुआ हो।

अपने ऊपर खर्च करने के पूर्व एक-एक पाई के वारे में वह पूरी तरह से विचार कर लेते थे। अपने पर किसी प्रकार का अनावश्यक खर्च उन्हें वर्दाश्त नहीं होता था। लेकिन दूसरों पर खर्च करते समय इस वात का हमेशा ध्यान रखते थे कि वह व्यक्ति अपने पर किस तरह खर्च करता है। उसी के अनुरूप, अपने सिद्धान्तों के खिलाफ गये विना, वह खर्च करने में हम वच्चों से अथवा किसी मुनीम-गुमाश्ते से कभी कोई कमी रह गई तो वह भी उन्हें सहन नहीं होती थी, वल्कि डांट भी पड़ जाती थी।

●

प्रेम का उलाहना

इस संदर्भ में एक प्रसंग याद आता है। कांग्रेस तथा अन्य कार्यों से काकाजी कानपुर गये थे। वहां का कार्य पूरा हो जाने पर हम लोग शायद इलाहावाद जा रहे थे। स्टेशन पर कांग्रेसजन तथा अन्य मित्रगण पहुंचाने आये। काकाजी अधिकतर तीसरे दर्जे में ही सफर किया करते थे। 'नवीनजी' (श्री वालकृष्ण शर्मा 'नवीन') काकाजी को उलाहना देते हुए बोले, "आपका तीसरे

दर्जे में सफर करना हमें सहन नहीं होता। इससे आपके स्वास्थ्य पर बुरा परिणाम होगा, आपकी काम करने की शक्ति घटेगी। यह आपका निजी सवाल नहीं है। आपकी कार्य-शक्ति का घटना या स्वास्थ्य पर बुरा परिणाम होना देश की हानि है। आप इस तरह अपने लिए कंजूसी करें या लापरवाही वरतें, यह हम वर्दाश्त नहीं कर सकते।"

घरवाले, और हम वच्चे भी, यह जानते थे कि तीसरे दर्जे की यात्रा करने में काकाजी को कितना शारीरिक कष्ट होता था। उनके भारी-भरकम शरीर के लिए तीसरे दर्जे की पटिया पर लेटना भी कठिन होता था, करवट वदलना तो दूर रहा। कई वार तो करवट वदलने के लिए वह उठकर बैठते, फिर दूसरी करवट लेकर सोते। लेकिन इसके वावजूद नींद उन्हें गाढ़ी आती थी और चित्त प्रसन्न रहता था। यात्रियों से हँसी-मजाक, वार्तालाप आदि भी चलता ही रहता था। उनमें से कोई व्यक्ति योग्य मालूम दे तो उसे प्रभावित कर रचनात्मक, राजनैतिक या व्यापारिक कार्यों के लिए पकड़ लेने का भी उनका प्रयत्न चालू रहता। लंवी यात्रा में डिब्बे के सव यात्री एक पूरा परिवार ही वन जाते थे। ऐसी यात्राओं में हम लोगों को, जो उनके साथ रहते थे, सीखने-समझने को काफी-कुछ मिलता था।

●

सचाई और सादगी

हमारे आग्रह के वावजूद, यहांतक कि मोतीलालजी, मालवीयजी और गांधीजी के कहने पर भी, तीसरे दर्जे की यात्रा को छोड़ने के लिए वह तैयार नहीं होते। तीसरे दर्जे में ही सफर करने का उनका कोई नियम नहीं था; लेकिन यात्रा वह हमेशा तीसरे दर्जे में ही करते थे। कभी किसी खास कारण से मध्यम, दूसरे या पहले दर्जे में जाना पड़ा तो चले जाते थे। लेकिन ऐसे मौके वहुत कम आते थे और जव आते भी थे तो उसमें उद्देश्य शारीरिक-श्रम या कष्ट वचाने का उतना नहीं होता था, जितना अन्य अनिवार्य कारणों का। रास्ते की उनकी खुराक भी ज़्यादातर मूंगफली, चना, गुड़, मूली, गाजर, टमाटर, अमरूद, पपीता,

केला आदि होती थी। डिब्बे में जितने सहयात्री सहयोग दे पाते, उनके साथ एक प्रकार का सामूहिक भोजन ही होता था यह।

'नवीनजी' के उलाहने के उत्तर में उन्होंने तीसरे दर्जे में यात्रा करने से होनेवाले लाभ गिनाये—१. श्रम करने की आदत पड़ना, २. कठिन प्रसंगों में प्रसन्न-चित्त रहना, ३. जनता से सीधा संपर्क रख सकना, ४. जनता, कार्य-कर्ताओं और नेताओं में एक प्रकार की अभिन्नता और आत्मीयता महसूस करना, आदि। इसके अतिरिक्त जब हम सार्वजनिक कार्यों की जिम्मेदारी अपने ऊपर लेते हैं तो जिनके प्रतिनिधि होकर हम काम करते हैं, उनका नेतृत्व करने की बदौलत उनसे अधिक आराम से सफर करने का हमें कोई नैतिक अधिकार भी नहीं होता। हमें देश और जनता के सामने ऐसे उदाहरण रखने हैं, जिनका वह आत्म-सम्मान के साथ अनुकरण कर सके। शरीर को कष्ट देने से स्वास्थ्य बिगड़ता नहीं, उलटा सुधरता है। फिर मानसिक दृष्टि से भी, ऊंचे वर्ग में चलने से मुझमें घमंड आ सकता है और नम्रता व इंसानियत की कमी भी हो सकती है।

एक सज्जन ने मोतीलालजी और मालवीयजी का उदाहरण दिया, और कहा कि वे भी तो ऊंचे दर्जे में यात्रा करते हैं। इस पर काकाजी ने बड़ी श्रद्धा और नम्रता से कहा, "वे हमारे गुरुजन हैं, श्रद्धा के पात्र हैं। उनकी अवस्था व कार्यक्षमता को देखते हुए वे किस दर्जे में यात्रा करते हैं, यह बात बहुत छोटी और गौण हो जाती है। उनकी महानता के सामने हमारे मन में ऐसी बात आना ही अनुचित है। उनकी अनेकों चीजें हम लोगों के सीखने और अनुकरण करने के लिए हैं। उनका जीवन बन चुका है, लेकिन हमें तो अपना जीवन अभी बनाना है, बहुत कुछ सीखना-समझना है। बिना त्याग व तपश्चर्या के शुद्ध व अटूट ज्ञान मिल कहां सकता है? करांची कांग्रेस में हमीं लोगों ने तो प्रस्ताव पास किया है कि स्वराज्य मिलने पर किसी भी व्यक्ति को ५०० रु० मासिक से अधिक वेतन नहीं मिलेगा। क्या इसका सीधा अर्थ यह नहीं कि हम अपने ऊपर भी ५०० रु० से अधिक खर्च नहीं करें?"

'नवीनजी' ने इस बात को और अधिक स्पष्ट करने को कहा तो काकाजी बोले कि करांची के प्रस्ताव के बाद उनका निजी खर्च ५०० रु० से अधिक नहीं होने पाता। इस खर्च में उनके सचिव व एक नौकर की तनख्वाह, तीनों का यात्रा-व्यय, तार-डाक तथा कपड़े-लत्ते सब शामिल हैं। हां, परिवार के

अन्य सदस्यों व मेहमानों का खर्च अलग है। जब नवीनजी ने देखा कि बाजी हारी जा रही है तो कहने लगे, "आपको समझाना तो कठिन है, लेकिन आपका इस तरह कष्ट पाना हमसे सहन नहीं होता।" फिर मेरी ओर देखकर बोले, "कमल से पूछिए, इसे भी कुछ आराम मिलता है क्या?"

काकाजी ने फौरन कहा, "इसे आराम सोचना हो और ऊंचे दर्जे में सफर करना हो, तो मेरी ओर से कोई रोकटोक नहीं है। लेकिन इसके कारण मुझे अपनी साधना नहीं छोड़नी चाहिए, और हमारे जीवन का हरेक कार्य साधनायुक्त ही होना चाहिए।"

बात कुछ गंभीर हो चली थी। नवीनजी ने झुंझलाहट-मिश्रित स्वर में मुझे हाथ से झटका देते हुए कहा, "अरे भाई, तुम भी तो कुछ बोलो।"

मैंने कहा, "काकाजी के जो मज़बूत तर्क हैं उन्हीं पर आपने हमला किया है। लेकिन उस जगह वह हार नहीं सकते। इनके स्वभाव को यदि आप अच्छी तरह जानते तो आप उनके कमजोर पहलू पर ही वार करते। आपने देश के लाभ और इनके स्वास्थ्य पर होनेवाले परिणामों की बात की। लेकिन दरअसल बात यह है कि काकाजी हैं कंजूस। यदि ऊंचे दर्जे में वह सफर करें तो खर्च तो इनका निजी होगा और उसका लाभ यदि अप्रत्यक्ष रूप से भी देश को मिलता है तो उससे इन्हें क्या लाभ?" नवीनजी बोले, "आखिर बनिये का बेटा भी तो बनिया ही होगा न!"

गाड़ी का समय हो गया था। काकाजी और मैं डिब्बे में बैठ गए। नवीनजी चुटकी लेते हुए बोले, "जीत रुपये की ही रही। हम जैसे मित्रों की सलाह को कौन पूछता है? 'चमड़ी जाय पर दमड़ी न जाय', इस कहावत का असली मर्म आज ही समझ में आया। यदि पहले ही समझ लिया होता तो हम भी सेठ हो जाते।"

गाड़ी ने सीटी दी—गार्ड ने झंडी हिलाई और गाड़ी चल दी। काकाजी ने कहा, "तुम भी रुपये की बचत करना सीखो। जो बचाओ वह मुझे दे दो, मैं उसे अच्छे ब्याज पर लगा दूंगा, जिससे अड़ी-गड़ी में तुम्हारे काम आ सके। जो पैसा मैं बचा लेता हूं या बचा सकता हूं, उसे जन-हितार्थ लगाने के लिए आप सब लोगों का उसपर अधिकार है।"

गाड़ी कुछ तेज हो गई। बात वहीं रह गई। आदर और स्नेह के इन

उलाहनों में कितना सौहार्द्र, कितनी आत्मीयता एक-दूसरे के प्रति झलकती है। कार्यकर्ताओं और नेताओं के बीच इस प्रकार का स्नेहपूर्ण और निडर सम्वन्ध ही हमारे राष्ट्रीय आंदोलन की एक वहुत वड़ी शक्ति थी। यही कारण था कि नेता अपने अनुयायियों या देश की जनता से हर प्रकार का त्याग, वलिदान करवा लेते थे। उसी तरह कार्यकर्ता भी अपने नेताओं से, विना किसी संकोच या भय के, खरी-खरी वातें कर लेते थे।

इस तरह का निर्भीक, निर्दोष, शुद्ध मानस देश में एक वातावरण वनाने और नैतिक शक्ति को संचारित करने में वहुत सहायक हुआ। आज देश के नेतृत्व में उस सचाई, त्याग, तपश्चर्या, लगन और आपसी संबंधों में उस विश्वास व आत्मीयता की कमी के कारण देश का वातावरण दूषित होता जा रहा है। संकुचित स्वार्थ-भावना हम पर हावी होती जा रही है और जन-कल्याण की शक्तियों का ह्रास होता जा रहा है। मानवीय व दैवी गुणों का मूल्य नहीं रहा। समाज में अविचार और दुर्गुणों के प्रतिरोध में जो पुण्य-प्रकोप जाग्रत रहना चाहिए वह सुप्त होता जा रहा है। इस वातावरण को फैलने से रोकने के लिए किसी सन्त, महात्मा के आह्वान की आवश्यकता है।

हो सकता है कि गीता में लिखे अनुसार शुद्धता की ग्लानि अभी इतनी नहीं हुई जिसके लिए दैविक शक्तियों को अवतार लेना पड़े। शायद पाप का घड़ा अभी पूरा नहीं भरा है। एक तरफ से यह हमारी वचत भी है तो दूसरी ओर यह हमारी कमी भी हो सकती है। हमारे अंदर छिपी सज्जनता—सौजन्य संकट में है, असमंजस में है। वह नहीं समझ पा रही कि वह क्या करे और कैसे करे? यही बेचैनी हमें त्रस्त कर रही है। ऐसा लगता है कि इस ग्लानियुक्त वातावरण के प्रभाव से एक वारगी तो सौजन्य टकराकर तितर-वितर हो जायगा। भारतीय मानस में कुछ अंधेरा-सा छाया है। लेकिन उसकी आत्मा में सत्य का प्रकाश अव भी दीप्त है। इस अंधकार में से भी भावी भारत की उज्ज्वलता का स्पष्ट आभास होता है। गांधीजी भी अंतिम समय तक यही प्रार्थना करते रहे थे कि 'सव को सन्मति दे भगवान!'

●
'अतिथि देवो भव'

बजाजवाड़ी में रहते समय मेहमानों का तांता लगा ही रहता था। हर मेहमान की खातिरदारी काकाजी स्वयं करना चाहते थे। छोटे-से-छोटे कार्यकर्ता से लेकर वड़े-से-वड़े नेताओं का उन्होंने समान भाव से ही आतिथ्य किया। जव कांग्रेस कार्यकारिणी की वैठक या और किसी जलसे, सम्मेलन आदि प्रसंगों पर घर में मेहमानों की भीड़ होती थी तो हम पांच वहन-भाई, मेरी बुआ और उनके तीन वच्चे, माताजी, पिताजी और कई वार परिवार के अन्य लोग भी, जिनमें दादी, ताई, चचेरे भाई आदि भी थे, हम सव घरवालों के लिए लगातार कई हफ्तों तक एक कमरा भी नहीं होता था। वरामदे अथवा मैदान में हम लोग सोते थे और अस्थाई रूप से वनाये गए स्नानघर और शौचालयों का उपयोग करते थे। उन दिनों हमें यह वात कभी महसूस तक नहीं हुई कि रहने के लिए अलग कमरे की भी आवयकता होती है।

पूरे घर में आतिथ्य का वातावरण रहता था, वल्कि यह कहना अधिक ठीक होगा कि जो लोग आते-जाते थे, वे सभी एक वड़े परिवार के सदस्य होकर ही रहते थे। वर्धा में कलकत्ता, मद्रास, दिल्ली, वम्वई चारों दिशाओं से सीधी रेलगाड़ियां सुवह और शाम को आती-जाती रहती थीं। मेहमानों को लाने के लिए स्वयं काकाजी स्टेशन पर जाते थे। काम के दवाव की वजह से और स्वास्थ्य की कमजोरी के कारण हम लोग उनसे कहा करते थे कि आपको स्टेशन जाने की जरूरत नहीं, हममें से कोई जाकर ले आवेगा। पहले तो वह मानते ही नहीं थे और कभी-कभी किसी कारणवश मान भी गए तव भी अक्सर वह स्टेशन पहुंच ही जाते थे। सुवह रेलगाड़ियां आने का समय ऐसा होता जवकि हम लोगों की पढ़ाई में खलल पड़ता। शाम को हमारे खेल का समय होता।

मैं कहता था कि यदि आप स्टेशनं जाते ही हों तो फिर हममें से किसी को जाने की जरूरत नहीं है, खास कर जब हमारी पढ़ाई या खेल में विघ्न पड़ता है। अगर वह हमारे जाने के लिए मान गए और हम लोग स्टेशन चले भी गए और पीछे कोई सवारी नहीं रहती। तव भी अक्सर वह पैदल ही चल कर आ जाते और कहते कि मेरा काम तो हो ही गया था, सहज ही कुछ घूमना

भी हो गया। पर इस वात पर मेरा और उनका हमेशा झगड़ा चलता ही रहता। किंतु इस मीठे झगड़े का अंत कभी नहीं हुआ।

●

सच्ची सती होना

काकाजी के स्वर्गस्थ होने पर उनकी चिता में ही मां सती होना चाहती थीं। वचपन से ही वह सती के आदर्श से प्रभावित थीं। अंदर-ही-अंदर ऐसा भाव भी रहा कि ऐसा प्रसंग कव और कैसे आवे, जिससे वह सती हो सकें। इन्हीं संस्कारों की वजह से वापू से उन्होंने चिता में भस्म होने की अनुमति मांगी। वापू ने कहा, "शरीर को क्या जलाओगी! यह तो एक रोज जाना ही है। अपने मन की मलीनता को ही भस्म करो। जमनालालजी तो गये, अव उनका कार्य तुमको करना है। जिस गाय की सेवा का व्रत उन्होंने लिया था उसे अव तुम्हें पूरा करना है। शरीर को छोड़ कर अव जमनालालजी की आतमा वन्धन-मुक्त हुई है। वह अमर हैं। उनकी प्रेरणा लोगों को मिलती रहेगी। हम लोगों के द्वारा उनकी आतमा काम करती ही रहेगी। इस बीड़े को तुम उठाओ।"

मां ने अपनी असहायता और असमर्थता इस कार्य के करने में प्रगट की; लेकिन वापू का जो भी आदेश हुआ उसको करने का उन्होंने भरसक प्रयत्न किया और अपनी सारी सम्पत्ति गो-सेवा-कार्य के लिए काकाजी की चिता की साक्षी में और वापू की उपस्थिति में उन्होंने अर्पण कर दी। काकाजी की आदत का उन पर असर रहा है कि अपने पर कम-से-कम खर्च करना। लेकिन काकाजी में जो संतुलन था, मां में वह उतना नहीं होने से, और इस भावना के कारण भी कि जव मैं अपना सव कुछ दे ही चुकी हूं तो मुझको अब कुछ भी खर्च करने का अधिकार कहां रहा; परंतु जव कुछ करना ही पड़ता है तो लाचारी के साथ वह कम-से-कम ही करना, ऐसा निष्ठुर किंतु सहज और स्वाभाविक आग्रह उनके जीवन में आ गया है। इसी कारण उनकी तरफ से हम लोगों को काफी चिन्ता और कभी-कभी क्लेश रहता है। मैं उसे कहता हूं कि तू कभी कहीं गई और अचानक गुड़क गई, तो हमें उसकी खवर भी शायद न लगे। उसका वह सहज जवाव देती हैं कि इससे अच्छा

हो ही क्या सकता है। उनके चित्त में शांति, संतोष और प्रसन्नता देखकर हमारे लिए वही एक असीम समाधान का कारण है। वह कहती हैं कि आखिर भगवान की जो इच्छा होती है, वही होगा। वह सबकी संभाल करनेवाला है। तुम लोग फिकर क्यों करो! एक तरफ इस तरह से कह देती हैं तो दूसरी तरफ कहती हैं कि मौत का डर बिलकुल चला गया हो, ऐसा नहीं लगता। साथ ही बाल-बच्चों, सगे-संबंधियों और इष्ट मित्रों की बीमारी और कष्ट की उनको चिन्ता भी बनी रहती है। सेवा करने की इच्छा रखते हुए भी चिंता-मुक्त वह नहीं हो पा रही हैं। इसका भी उनके मन में मलाल रहता है।

घर में जो अच्छी-से-अच्छी चीज़ होती वह मेहमानों के लिए जाती। अच्छा फर्नीचर, गादी, तकिए, फल-फूल, खाने की चीजें आदि सभी उत्तम-से-उत्तम पदार्थ पहले मेहमानों के लिए ही होते। और इसकी परंपरा या परिपाटी इस सहज भाव से पड़ गई थी कि इसके अलावा कुछ हो सकता है, इसका भाव तक हमारे मन में कभी नहीं आया। जिस तरह भगवान को अच्छे-से-अच्छी चीज़ ही चढ़ाई जा सकती है, उसी तरह मेहमान को भी अच्छी ही चीज़ दी जानी चाहिए, ऐसा काकाजी के स्वाभाविक आग्रह के कारण यह रिवाज-सा हो गया बल्कि आदत ही पड़ गई थी।

फल आदि खाते समय काकाजी ने हम सबके लिए यह नियम बना रखा था कि सबसे कम अच्छे या खराब होनेवाले फल पहले खाये जांय। आम के मौसम में बाल्टी या पीपे में पानी भरकर आम उसमें सुबह से ही डाल दिये जाते थे। खाने के वक्त आमों को परात में रखकर उसके चारों तरफ बैठकर चूसे या खाये जाते थे। पहले रद्दी आमों से शुरुआत करनी होती। उत्तरोत्तर अधिक अच्छे आम लिये जाते। मैं मौका मिलने पर चालाकी कर जाता। मेरा आम खत्म होने को हो और एकाध कम अच्छा आम बाकी हो तो मैं खाने या चूसने में कुछ देर कर जाता जिससे दूसरे को कम अच्छा आम लेना पड़े और मैं बाद में अच्छा आम ले लूं। इसी तरह अन्य फलों के बारे में होता। मेरी चालाकी काकाजी समझ जाते और टोकते, "बदमाशी करता है?" कभी-कभी अन्य बच्चे भी पकड़ लेते थे। कोई दूसरा करे तो मेरी नजर से बच नहीं पाता था। इस व्यवस्था से कितने काम होते थे: न टिकनेवाले फल पहले खत्म होते थे, अच्छे फल बाद में खाने से अंतिम स्वाद सबका अच्छा रहता, दूसरे के प्रति

उदारता व अनुग्रह का भाव वढ़ता, फलों की जानकारी होती। हँसी, मजाक और छेड़खानी चलती रहती। किसी ने खराव समझ कर ही अच्छा आम उठा लिया, तो चर्चा छिड़ जाती। विनोद, वाद-विवाद और चर्चा आदि अनेक चीजें सीखने को मिलतीं।

लेकिन इस नियम का अतिरेक मां के स्वभाव पर यहां तक हो गया कि जवतक कोई फल सड़ा-गला या खराब न होने लगे तवतक वह उसे खाना ही नहीं चाहतीं, क्योंकि उनकी दृष्टि में तो वह अभी और टिक सकता है। जब हम उन्हें कहते हैं कि इस फल को कल सड़ने पर खाओ इसके बजाय आज ही क्यों नहीं खाओ, तो कारण तो उनकी समझ में आ जाता है, लेकिन आदत और स्वभाव की लाचारी वैसी-की-वैसी ही है। आज ७० वर्ष की अवस्था में भी अपने पर वाजिव खर्च करने का कुछ मौका होता है तो भी नहीं करने देतीं। इस उम्र में भी कई वार तीसरे दर्जे में अकेली ही चली जाती हैं। नौकर-चाकर आदि किसी को ले जाने से साफ इन्कार कर देती हैं। जहां जाना होता है, कभी-कभी वहां का पता-ठिकाना भी उनके पास नहीं होता। तार-टेलीफोन से सूचना देने के लिए इंकार कर देती हैं। ऐसे मौके भी आये हैं जव जहां जाना होता है वहां पर सूचना समय से नहीं पहुंच पाने के कारण स्टेशन पर ही असमंजसता में रह गईं। मां कहती हैं कि जान-पहचान का कोई-न-कोई तो मिल ही जाता है और भगवान की दया से वे लोग मुझे जहां कहीं जाना होता है, पहुंचा ही देते हैं।

•

काकाजी का स्वर्गवास

उत्तरायण, बुधवार, ११ फरवरी १९४२,
फाल्गुन शुक्ल की आमल की एकादशी

का दिन। कुरुक्षेत्र के युद्ध के बाद भीष्म पितामह अपने नाशवान शरीर को छोड़ने के लिए जिस दिन की राह देख रहे थे, वही यह पवित्र दिन था। पू० काकाजी के चले जाने के बाद सांत्वना देते हुए पू० विनोवा ने कहा था—"पितामह के स्वर्गारोहण के दिन की सारी अनुकूलताएं उस दिन भी थीं—

बुधवार विशेष में।" ऐसा था वह महत्वपूर्ण ऐतिहासिक और पौराणिक पावन पर्व !

मैं अपनी शकर मिल के आफिस में दोपहर के समय बैठा मैनेजर आनन्द-किशोरजी नेवटिया के साथ मिल संबंधी वातें कर रहा था। दूसरे रोज मेरा लाहौर-जाना जरूरी था। वहां मैंने हमारी कंपनी के संचालक-मंडल की महत्वपूर्ण वैठक वुला रखी थी। लाहौर का रिजर्वेशन कराने के लिए कुछ रोज पहले कह रखा था। रिजर्वेशन मिल नहीं रहा था, पर जाना तो अनिवार्य था ही।

मेरे मन में एक प्रकार की बेचैनी थी। घवराहट भी कहूं तो गलत न होगा। कुछ महत्वपूर्ण कामों की वार्ता में हम दोनों लगे हुए थे। एक वड़े सवाल का हल चर्चा में से निकलता-सा दिखाई दिया। मेरे वड़े वहनोई रामेश्वरप्रसादजी नेवटिया ही शकर मिल को शुरू से संभालते आये हैं। वह कलकत्ता किसी खास मीटिंग के लिए गये हुए थे। मीटिंग के पूर्व हमारी चर्चा का सार उन्हें वताना जरूरी मालूम दिया, जिससे उस नए दृष्टिकोण से भी वह सोच लें और उस महत्वपूर्ण मसले पर अपनी राय, लोगों से मिलने और मीटिंग में जाने से पूर्व कायम कर लें।

कलकत्ते का टेलीफोन लगा रखा था। आनंदकिशोरजी और मैं वातचीत में लगे थे कि इतने में मिल का कर्मचारी पूछने आया कि लाहौर का रिजर्वेशन मिल रहा है, उसको पक्का करा लिया जाय? आनन्दकिशोरजी पर कुछ ऐसा असर हुआ दिखाई दिया कि यह भी क्या पूछने की वात है? वह क्या जानता नहीं है कि जाना जरूरी है? लेकिन वह तो कुछ बोले नहीं, मेरे मुंह से अपने-आप ही निकल गया, "रहने दो, पता नहीं किधर जाना पड़े।" कर्मचारी चला गया, मैं स्वयं भी अचंभे में देखता रह गया कि मैंने क्या कह दिया। मन में आया कि कर्मचारी को रोककर रिजर्वेशन पक्का करने की कह दूं। लेकिन न जाने क्यों, जवान खुली नहीं। वह चला गया और उसने रिजर्वेशन के लिए इन्कार कर दिया।

मेरे मन की बेचैनी वढ़ रही थी। तरह-तरह के विचार मन में आ रहे थे। करीव दस रोज पहले मैंने वर्धा छोड़ा था। वहां से कलकत्ता, डालमियानगर, वनारस होता हुआ अपनी मिल पर गोला गोकरणनाथ आया था। वर्धा से निकल कर पहले दिन शाम को काकाजी से वजाजवाड़ी में मिलने गया था। मैं शहर के

मकान में रहता था। करीव ५।। महीने पहले उन्होंने गो-सेवा का व्रत लिया था। उसीमें उन्होंने अपनी पूरी शक्ति लगाने का निश्चय करके छः महीने के लिए रेल, मोटर आदि यंत्र-चालित साधनों का उपयोग न करने का व्रत लिया था। यह व्रत १३ या १४ फरवरी को पूरा होनेवाला था और १५ फरवरी को उन्होंने वम्वई पहुंचने का अपना कार्यक्रम वनाया था। व्यापार के हर काम से वह इसके पूर्व ही पूरी तरह से निवृत्त हो चुके थे। इतना ही नहीं, व्यापार-विषयक जानकारी प्राप्त करना या कोई सलाह आदि देना भी उन्होंने बंद कर दिया था। गो-सेवा के प्रचार के वास्ते ही वह बाहर निकल रहे थे और उसीके लिए उनका पहला मुकाम वम्वई था। मैंने भी अपना कार्यक्रम इस तरह से बनाया था, जिससे अपने व्यापारिक कार्य को पूरा कर मैं भी १५ तारीख तक काकाजी के पहुंचते-पहुंचते बम्वई पहुंच जाऊं और उस काम में उनको कुछ मदद दे सकूं। मेरे इस कार्यक्रम की जानकारी उनको थी।

काकाजी ने जीवन में कभी किसी वात के लिए मुझसे 'ना' नहीं कहा था। अपनी राय वह दे देते अथवा कार्य होने के बाद उसके अच्छे-बुरे की स्पष्ट चर्चा कर लेते थे। उनके प्रति मेरी भक्ति निर्मल और आदर अटूट रहा है। मैं उनसे मजाक कर लिया करता था, लेकिन जीवन में उनके आदेश की मैंने कभी अवहेलना नहीं की। उनका भी मुझपर असीम स्नेह और विश्वास था।

इन्हीं दिनों कुछ मेरी व्यापारिक नीति की वजह से, जिससे कि काकाजी सहमत नहीं थे, उन्हें मेरे वारे में कुछ असंतोष रहने लगा था। साथ ही एक घटना ऐसी भी हो गई कि जिससे उनके मन में कुछ गलतफहमी भी पैदा हो गई। कुछ अंश में उसमें मेरी गलती थी, जिसका उन्हें दुख था। उस सम्वन्ध में हमारी थोड़ी वात हो चुकी थी। पूरी वात करने का मौका वर्धा में नहीं मिल रहा था। मैंने सोचा कि बम्वई में सारी वातें कर लेंगे। काकाजी ने भी शायद वही अधिक अनुकूल समझा, क्योंकि वह वर्धा में वहुत ज्यादा व्यस्त रहते थे।

इस तरह की चर्चा वह मुझसे अक्सर किया करते थे, और सलाह भी लेते थे; अपने और मेरे गुण-दोषों की भी जानकारी मुझे देते थे और समय-समय पर चर्चा भी कर लेते थे। उनका वड़प्पन था कि पिता-पुत्र के इस संबंध को उन्होंने अपनी तरफ से मित्रता के रूप में पूरी तरह से परिवर्तित कर लिया

था। लेकिन इसके लिए मैं अपने को पात्र बिलकुल नहीं समझता था। विशेष मौकों पर यह भाव मैंने उनसे कहे भी थे।

जब मैं उनसे मिला और चूंकि दूसरे रोज सुबह ही कलकत्ता मेल से मुझे जाना था, इसलिए जब मैंने विदा-सूचक प्रणाम किया तो वह बोले, "कब जा रहे हो?"

"कल सुबह मेल से।" मैंने उत्तर दिया।

"क्या करेगा जाकर?"

काकाजी के इस प्रश्न से मुझे आश्चर्य हुआ, क्योंकि एक तो वह जानते थे कि काम बड़ा जरूरी है, दूसरे इस तरह कहने की उनकी आदत नहीं थी।

मैंने कहा, "आप कहें, तो रुक जाऊं।"

वह बोले, "तुम्हारा कार्यक्रम बन चुका है। तुम्हारा कर्तव्य जाने में ही है। हो सके तो सुबह मिलते हुए जाना। फिर मिलना शायद ही हो।"

उनका यह आखिरी वाक्य मुझे अटपटा तो लगा, लेकिन मैंने उसका इतना ही अर्थ लिया कि आलस्यवश मैं जल्दी उठ नहीं पाऊंगा और गाड़ी पकड़ने की जल्दी में मिलना नहीं हो पाएगा।

दूसरे दिन मैं सुबह जल्दी ही तैयार होकर गया, लेकिन कोई अड़चन आ गई और उनसे मिलना न हो सका। गाड़ी का समय हो चुका था। मुझे चला जाना पड़ा। मां से कह गया कि वह मेरा प्रणाम कह दे। काकाजी से इस तरह की बातचीत का मेरे मन पर गहरा असर था। कुछ महीनों से उनका स्वास्थ्य बहुत अच्छा हो गया था। शायद पिछले कई वर्षों में ऐसा नहीं रहा! चेहरे पर तेज था। मन की स्थिति भी बहुत उन्नत थी, शायद जीवन में वैसी पहले कभी न रही हो। हां, पूज्य बापूजी की तबीयत ठीक नहीं थी। कुछ हफ्तों पहले चिन्ता का कारण हो गया था, लेकिन अब वैसा भय नहीं रहा था।

ऐसी मनोदशा में मैंने वर्धा छोड़ा था। कलकत्ते का काम करके मैं डालमिया-नगर गया। वहां श्री रामकृष्णजी डालमिया से बातचीत होते समय उन्होंने कहा, "भृगुसंहिता के अनुसार इस साल जमनालालजी के जीवन को गहरा खतरा है।" मैंने कहा कि यदि खतरा था तो वह जेल में पूरा हो चुका, वहां वह करीब-करीब चले ही गए थे। उनके खुद के शब्द थे कि जब उन्हें मृत्यु का आभास हुआ तो उन्होंने बापूजी का स्मरण किया, विनोबा को हृदय से प्रणाम किया और रामनाम लेते

हुए मूर्च्छित हो गए। उन्हें इस वात की तसल्ली थी कि आखिरी समय किसी प्रकार के मोह, लालच, भय आदि विकार ने उनको नहीं सताया और आनन्द तथा समाधान से जाने की उनकी तैयारी हो गई थी। मैंने रामकृष्णजी से यह सव कहा, लेकिन फिर भी उनको डर था कि खतरा टला नहीं है। खतरा उनका ५३ वर्ष की अवस्था तक है। उसमें अभी कई महीने बाकी हैं और इसकी उन्हें पूरी चिंता है।

यही विचार मेरे मन में घूमता रहा। 'भृगुसंहिता' पर मेरा विश्वास नहीं था। काकाजी को भी वह साल-दो-साल पहले यह वात कह आये थे। उन्हें तो ऐसी वात की चिन्ता ही नहीं होती थी। हमेशा कह दिया करते थे कि मरना तो एक दिन अवश्य है, उसके लिए हर वक्त तैयार रहना चाहिए। फिर भी मेरे मन की बेचैनी वढ़ती गई। ये सारे विचार दिमाग में उलट-पुलट आते रहे।

इतने में कलकत्ते से टेलीफोन आया। खयाल था कि वह रामेश्वरजी का ही होगा। आनन्दकिशोरजी नजदीक थे। उन्होंने ही उसे उठाया।

●

ईश्वरीय सन्देश

टेलीफोन रामेश्वरजी का ही था। उन्होंने वहुत ही कांपती हुई आवाज में कहा, "वर्धा से वहुत ही खराव खवर है।" निकट होने की वजह से मुझे भी उनकी आवाज सुनाई पड़ रही थी, मेरा दिल सन्न रह गया, कंपकपी आ गई।

मन में यही डर, विचार हुआ कि कहीं वापू को कुछ न हो गया हो। ऐसा हुआ तो अनर्थ हो जायगा! भगवान करे इससे तो काकाजी को कुछ हो गया हो तो चलेगा, लेकिन वापू को इस समय कुछ नहीं होना चाहिए। इस तरह के भाव मेरे मन में आये कि तुरन्त रामेश्वरजी की आवाज फोन पर सुनाई दी कि जमनालालजी नहीं रहे। मेरी आंखों के आगे अंधेरा छा गया। आसमान ही मुझपर टूट पड़ा। अंदर से एक आवाज कहने लगी कि तूने वापू के बदले काकाजी का जीवन दिया है। अव इसका दुख कैसा! उस अन्तरात्मा की आवाज को मैंने

कई वार कोसा भी और कहा कि तेरी नीति ठीक नहीं, इसी तरह तूने हरिश्चन्द्र को दरिद्री बनाया, आदि-आदि। फिर भी मन में अजीव प्रकार का धर्म-संकट पैदा हो गया। वापू के न जाने की तसल्ली थी। काकाजी का जीवन उन्नत रहा और सफल रहा। उनके चले जाने में उनका भला हो सकता है। हमें दुख अपने मोह और स्वार्थ से होता है, आदि विचारों की श्रृंखला वन गई।

आनन्दकिशोरजी ने पूछा, "मिल वन्द कर दें?"

मैंने कहा, "काकाजी गये, पर उनके काम जैसे-के-तैसे चालू रहने चाहिए।" लेकिन यह उन्हें ठीक न लगा। मेरी भी आग्रह करने की वृत्ति नहीं थी। मिल वन्द कर दी गई।

लखनऊ से 'नेशनल हेरल्ड' द्वारा भी यही समाचार मिले। वर्धा, वम्वई टेलीफोन नहीं हो सके। मैंने तुरन्त वर्धा के लिए रवाना होने का निश्चय किया। समय कम था, मोटर से रवाना हुआ, नहर का रास्ता सहूलियत का होने से उसी रास्ते जाने का तय किया। पूर्व सूचना न दे सकने की वजह से रास्ते के दरवाजे वन्द मिलने की पूरी आशंका थी। पर उसी रास्ते जाने से ही समय पर पहुंचने की संभावना हो सकती थी। संयोग से लगभग सभी दरवाजे खुले मिले। दो दरवाजे वन्द थे, उनकी वगल से मोटर निकल जाने की गुंजाइश थी। ड्राइवर ने गाड़ी वड़ी तेजी और सावधानी से चलाई और काफी समय पहले लखनऊ ले आया। रिजर्वेशन हो चुका था। थोड़ा समय होने से, 'नेशनल हैरल्ड' के आफिस में चला गया, पर वहां अधिक जानकारी नहीं मिली।

स्टेशन पर मालूम हुआ कि माता आनंदमयी भी उसी गाड़ी से जा रही हैं। कुछ महीनों पहले काकाजी उनके पास रह कर आये थे और उनके अशांत मन को उनके पास रहने से शांति मिली थी। मैं उनके डिब्बे में गया। उन्हें प्रणाम कर काकाजी के चले जाने के समाचार दिये। उनके साथियों में भी दुख का वातावरण छा गया। माताजी को विशेष आश्चर्य या दुख नहीं हुआ। उन्हें शायद मालूम था कि वह जानेवाले थे। काकाजी के आग्रह पर इस तरह का इशारा भी उन्होंने काकाजी को किया था, यह काकाजी की डायरियों से वाद में पता चला। माताजी ने कानपुर की टिकटें मंगवाने का आदेश मात्र दिया था। कोई नहीं जानता था कि वह कहां जा रही हैं? मैंने उनसे प्रार्थना की कि वर्धा चलें। उन्होंने इतना ही कहा कि जिधर मालिक की मरजी होगी, वहीं जाना

३६

होगा। लेकिन वर्धा फिर कभी आ जाने का वचन उन्होंने दिया। माताजी उस समय तो नहीं आईं, पर दो-चार रोज वाद वर्धा आ गईं। उससे खासकर मां तथा हम सवको वड़ी तसल्ली रही और अच्छा लगा।

काकाजी के परिचित एक वृद्ध सज्जन लखनऊ से ही उसी डिब्बे में सवार थे। वह भुसावल जा रहे थे। उन्हें तवतक कुछ भी पता नहीं था। मेरे मन में नाना प्रकार के संकल्प-विकल्प चल रहे थे। उनसे काफी वातचीत होती रही। पर मैंने उन्हें काकाजी के वारे में कुछ नहीं कहा।

दूसरे रोज अखवारों द्वारा उन्हें जानकारी मिली। वह रोने लगे तो मुझे ही उन्हें तसल्ली देनी पड़ी। भुसावल से वह आगे चले गए, और मैं गाड़ी बदल कर १३ तारीख की सुवह वर्धा पहुंचा। एक रिश्तेदार भुसावल से साथ हो लिये थे। वह खवर सुनकर इंदौर से आ रहे थे। उन्होंने सिर के वाल दे दिये थे। मुझसे भी वाल देने का आग्रह किया। मैंने कहा, "वालों को देने से क्या होगा?" उसी तरह घर पहुंचा। सावित्री से मालूम हुआ कि सव-कुछ हो चुका है। न तो उसे विशेष बोलने की हिम्मत थी, न मुझे ही कुछ पूछते वन पाता था। स्नान आदि करके सीधा गोपुरी गया। वहां मां तपस्विनी की तरह बैठी थीं। उनको प्रणाम किया और लिपट गया। मन में डर था कि मां से कैसे मिलूंगा? वहां का वातावरण देखकर मुझे वहुत अच्छा लगा और मेरा भी ढाढस बंधा। होम, हवन, प्रार्थना, गीतापाठ आदि रोजाना वारहवें दिन तक बराबर चलते रहे। दो स्वामी अचानक उन्हीं दिनों के लिए आ गए थे। उन्होंने होम, हवन आदि का कार्यक्रम बहुत अच्छी तरह चलाया। उनका उच्चारण वहुत अच्छा, स्वर मधुर और गान की लय ओजस्वी व हृदय को छूनेवाली थी। घंटों वे इस कार्य को भक्ति-भाव से करते जिससे सुननेवालों को वड़ी सांत्वना मिलती। इतने सरल और सेवाभावी थे कि वे इस सवमें रम गए। वे कैसे, कहां से और कव आये, कोई नहीं जानता था। वहां किसी-न-किसी घरवालों के कोई परिचित होंगे, ऐसा सभी ने मान लिया था। मां से उनकी काफी चर्चा होती रहती थी। वहां की संस्थाओं में उनके योग्य काम देनें की सोच रहे थे। वारहवें दिन श्रद्धांजलि अर्पित कर मां से काकाजी के फूल कैलास पर चढ़ाने और मानसरोवर तथा गंगोत्री में प्रवाहित करने के लिए उन्होंने ले लिये थे। वाद में अचानक ही वे चले गए। उनके चले जाने पर तपास किया, लेकिन कुछ पता नहीं चल सका। उन्हें न तो पहले कभी किसी ने देखा था न

बाद में। मां उन्हें कुछ देना भी चाहती थीं। पर वे तो चले ही गए थे, और उनका फिर कहीं पता नहीं चला। अब क्या हो? लोग कहने लगे—देवता, हनुमान अथवा राम-लक्ष्मण ही, मनुष्य रूप धारण करके आये थे। उनके लक्षण भी दो-एक जनों से कहे। पर अब क्या हो, वे तो गये। हम सबको अफसोस ही रहा, मां को विशेष रूप से।

काकाजी चले गए। सारी वर्धा नगरी रो पड़ी। सारा देश विह्वल हो गया। बजाजवाड़ी के पीपल के बढ़ते हुए वृक्ष को कटवाकर उसकी लकड़ियां रखी हुई थीं। दादीजी के, जिनकी अवस्था उस समय अस्सी के ऊपर थी, तीनों लड़के सामने ही चल बसे। काकाजी उनके दूसरे लड़के थे, पर जानेवालों में आखिरी। वह दादीजी से कहा करते थे कि तेरे लिए पीपल की लकड़ियां बटोर रखी हैं। तू निश्चिंत रह। पर वे लकड़ियां अब उन्हींके काम आईं। बड़े दादा बच्छराजजी के समय के मंगवाये हुए गंगा-जल के कई हंडे थे, उन्हीं में से एक बचा रह गया था। वह दादीजी के लिए ही समझा हुआ था, पर आया काकाजी के ही काम।

काकाजी ने कुछ महीनों पूर्व गोपुरी में घूमते समय एक स्थान पर खड़े होकर अचानक मुझसे कहा था कि मेरी समाधि यहां होगी, और इशारा करके बताया था कि यह बीच की ओर कुछ उठी हुई जो जगह है वहां। इधर महिलाश्रम व काकावाड़ी है, यह विनोबाजी की नालवाड़ी है, उधर बापू का सेवाग्राम है, उधर मगनवाड़ी है। बापू जब सेवाग्राम से वर्धा आते-जाते रहेंगे तो यहां से मुझे उनके दर्शन होते रहेंगे। चारों तरफ मेरी नज़र रहेगी, आदि। मुझे दुख था कि काकाजी की इस इच्छा को मैंने किसी से व्यक्त नहीं किया था। मुझे क्या पता था कि मैं ऐसा अभागा होऊंगा कि उस आखिरी दिन उनके दर्शन भी मुझे नसीब न होंगे। मैंने गोला से वर्धा का टेलीफोन मांगा था पर न मिला। समय जा रहा था, मैं अधिक ठहर नहीं सका। शाम होने आई थी। आनन्दकिशोरजी से कहकर मुझे वहां से चला आना पड़ा। पर वर्धा आने पर पता चला कि दाग देने का जब सवाल खड़ा हुआ तो कई जगहें सोची गईं। लेकिन मदालसा ने उसी स्थान की सूचना की, जो बापू आदि सभी को अच्छी लगी। मदालसा को काकाजी की ही आत्मा ने प्रेरणा दी होगी; अन्यथा उसको तो इस बात ही जानकारी नहीं थी। यह जानकर कि उनका दाग वहीं हुआ मेरे सिर से एक भारी बोझ हट गया। शुद्धात्माओं की इच्छा-

पूर्ति ईश्वरीय प्रेरणा से होती है। हम उसको पूरी करनेवाले कौन? यह विचार मेरे मन में घर कर गया।

पूज्य काकाजी के वियोग ने मुझे जितना सावधान किया है उतना अपने जीवन में मैं कभी नहीं था। मेरे जीवन पर सबसे ज्यादा असर भी उन्हीं का था। उनकी उपस्थिति में मैं अपने मस्त स्वभाव के कारण इतना निडर हो चुका था कि अपनी कमजोरियों से भी मैं निर्भय रहता था। उनके छत्र के नीचे हमारी कमजोरियां दबी-छिपी और फूलती-फलती भी रहीं। वह ही थे जो हमारी कमजोरियों को सहन कर सकते थे। अब वे कमजोरियां नागवार लगती हैं।

गुरुजनों के प्रेम और आशीर्वाद से यद्यपि हम लोग धीरज और शांति से इस महान आपत्ति को निवाह ले गए, फिर भी अपने-आपको हम लोग अभी भी नहीं संभाल सके हैं। मां की हिम्मत को देखकर तो हम सभी दंग रह गए। यह उनकी हिम्मत थी कि जिससे हम लोग ही क्या, हर कोई कुछ समय के लिए भूल जाता था कि कुछ हुआ भी है! पूज्य काकाजी के बाद हममें भला कौन ऐसा है, जो उनकी कमाई हुई इज्जत को उसी मेहनत और चिंता के साथ बनाये रखे? डर तो लगता ही है, परन्तु उन्होंने जो काम किये, वे पूरे ही किये और इस तरीके से कर गए कि उनके बाद भी वे आसानी से चलाये जा सकें। मुझे तो पूरा विश्वास है कि उनके सारे काम उसी तरह से चलते रहेंगे, जिस तरह कि वह करते रहे।

●

पत्र-व्यवहार

सत्याग्रह-आश्रम, साबरमती,
३-८-२७

चि० कमल,

तुम्हारा न मिलनेवाला पत्र मिला, क्योंकि तुमने लिफाफे पर 'रामकुंवर बजाज' कर दिया था। आश्रम में इस नाम का कोई आदमी न होने के कारण पत्र वापस कर दिया गया था। २-३ रोज बाद उसपर बजाज नाम और वर्धा की छाप देखकर आश्रम की डाक लानेवाले गजानन राव ने मुझसे पूछकर लिफाफा

खोला, तो अंदर तुम्हारे लिखे अपनी माता के व मेरे नाम के पत्र निकले। लिफाफा तुम्हारे देखने को भेजा है। आशा है, अब भविष्य में कम-से-कम ऐसी गलती तो नहीं करोगे।

तुम्हारे अक्षर तो मेरे से भी खराब हैं। पत्र भी शुद्ध लिखना नहीं आता। भविष्य में पत्र लिखा करो तो श्री धोत्रे या अन्य हिंदी-अध्यापकों से बराबर शुद्ध कराकर सुन्दर अक्षरों में लिखने का अभ्यास करोगे, तो उत्तम पत्र लिखने की आदत पड़ जायगी। और वह तुम्हारे लिए जरूरी भी है।

चरखा यहां से मंगाने में क्या फायदा? यहां जिस प्रकार के चरखे हैं, वैसे तो वहां पर भी हैं। वहां तुमको चाहिए तो तैयार भी करा सकते हो। यहां से भेजने में फिजूल रेल के ४-५ रुपये लग जायंगे और रास्ते में खराब होने का डर भी रहेगा, इसलिए यहां से नहीं भेजेंगे।

चरखे के साथ तकुवे ६ व १२ चक्री साथ मंगाई, सो ये भी वहीं मिल सकेंगी। ऐसी वहां न मिलती हों और तुम दूसरी तरह की मंगाना चाहते हो तो खुलासा लिखना।

तुम्हारा कार्यक्रम तुम्हारी माताजी की चिट्ठी में पढ़ा। अगर तुम नियमित रूप से उठकर उस मुताबिक कार्य पूरा कर सको तो बहुत संतोष होगा।

सैंडो के डंबल्स की जरूरत नहीं मालूम होती। अगर मंगाना हो तो पू० विनोबा की परवानगी लेकर श्री धोत्रे की मार्फत मंगवा लेना। इस प्रकार सीधे नहीं लिखना चाहिए। तुम्हें पू० विनोबा का व अन्य अध्यापक-वर्ग का पूर्ण प्रेम हासिल करना चाहिए। वह तभी हो सकेगा, जब तुम खूब मन लगाकर उत्साह से पढ़ोगे व सब काम करोगे।

जमनालाल का आशीर्वाद

बरसोवा (बंबई)
२६-४-३१

४० चि० प्रह्लाद व कमलनयन,

हम लोग यहां बरसोवा, जो विलेपार्ले-अंधेरी के पास समुद्र-तट पर है, ता० २३ से एक बंगला किराये पर लेकर रहने आये हैं। यहां आने के बाद विश्राम ठीक मिल रहा है। घूमने-फिरने का भी आराम है। मैंने तो कुछ समय

के लिए यानी सात रोज के लिए मोटर व रेल में न बैठने का निश्चय किया है। इससे भी शांति मिल रही है। जिन्हें मिलना होता है वे यहीं आ जाते हैं। जानकीदेवी का स्वास्थ्य भी सुधर रहा है। थोड़े रोज में पूरी ताक़त आ जाने की आशा है।

तुम दोनों के बारे में पूज्य काका सा० से अबकी बार ठीक बातचीत हो गई है। अब तुम दोनों अपनी दिनचर्या मुझे विस्तार से लिख भेजो, ताकि मुझे मालूम रहे कि पढ़ाई कितनी देर व किस प्रकार की होती है। कौन पढ़ाता है? आलस्य कम हो रहा है या नहीं? अगर होता है तो किस प्रमाण में? सभ्यता, व्यवहार दक्षता, सेवावृत्ति, प्रेमभाव, सचाई, नम्रता आदि में उन्नति हो रही है या नहीं? तुम दोनों को जो अनुभव जिस प्रकार होते हों, वे स्पष्ट और खुलासेवार अलग-अलग पत्र में लिखकर एक लिफाफे में बम्बई के पते से या बरसोवा, पोस्ट अंधेरी के पते से लिख भेजना।

जमनालाल का आशीर्वाद

पुनश्च—

विनोद के लिए यह लिखा है। चि० रामेश्वरप्रसाद का छोटा भाई बालकृष्ण है, जिसकी उम्र करीब १०-११ साल की होगी। उससे आज विनोद में बात हो रही थी। उससे मैंने उसके घर के व अपने घर के बच्चों की बुद्धिमत्ता के बारे में पूछा, तो उसने नीचे लिखे हुए क्रम के अनुसार नाम लिख दिये:

१ श्रीकृष्ण	१ मदालसा
२ शंकरदेई	२ रामकृष्ण
३ बालकृष्ण	३ कमला
४ रामेश्वरप्रसाद	४ उमा

५ कमलनयन

उसे पूछा गया कि कमलनयन का नंबर आखिर में क्यों? तो उसने कहा कि उसमें सभ्यता बिल्कुल नहीं है और पढ़ाई भी बहुत कम है। छोटे-छोटे बालक भी किस प्रकार राय बनाते हैं, यह जानने को तुम्हें लिखा है।

प्रह्लाद, नर्मदा, श्रीराम आदि से पूरा परिचय न होने से वह उनके बारे में राय नहीं दे सका। इसपर से तुम दोनों अपने तीनों कुटुम्बों के बालकों के बारे में नंबरवार अपनी राय लिख भेजना।—ज० ब०

४१

वर्धा, २५-९-३१

चि० कमल,

तुम्हारा पत्र मिला। तुम खूब खेलते-कूदते हो और प्रसन्न हो, यह जानकर खुशी हुई। एक बात का ध्यान रखना चाहिए। वह यह कि हास्य व विनोद ऊंचे दर्जे का होना चाहिए और निर्दोष भी। वह ऐसा नहीं होना चाहिए जो किसीको बुरा लगे। सभ्यतापूर्ण तो होना ही चाहिए।

अपनी राज़ी-खुशी के समाचार देते रहना।

जमनालाल का आशीर्वाद

वर्धा, २२-११-३१

चि० कमल,

तुम्हारा पत्र मिल गया था। पढ़ाई के बारे में तुम्हें अभी पूरा संतोष नहीं हुआ, ऐसा मथुरादासभाई कहते थे। तुम्हें किस प्रकार संतोष हो सकता है यह तो अब तुम्हें ही निश्चय करना चाहिए। श्री वालजीभाई-जैसे शिक्षक के पास भी तुम्हारा पूरा संतोष नहीं हो सकता तो कैसे संतोष होगा, यह बात मेरी समझ में नहीं आती।

अगर अंग्रेजी पढ़नी है तो मेहनत तुम्हीं को करनी होगी। कोई भी शिक्षक तुम्हें अंग्रेजी घोलकर पिलाकर विद्वान तो बना नहीं सकता। मेरी समझ तो यह है कि अब तुम श्री वालजीभाई पर पूरी श्रद्धा रखकर अंग्रेजी का तथा कर्तव्य का ज्ञान ठीक तरह से प्राप्त कर लो। ज्यादा आलस्य और मजाक में समय व्यतीत होता हो तो वह थोड़ा कम कर दो। श्री मथुरादासभाई के कहने से तुम्हारा आलस्य कम हुआ मालूम होता है। अब तुम्हारे लिए थोड़ी सभ्यता का भी खयाल करना जरूरी है। नहीं तो भविष्य में तुम्हें दुख होगा। यह बात मैं तुम्हें बराबर कहता आ रहा हूं।

आज मेरे ४२ वर्ष पूरे होकर ४३-वां वर्ष चालू हुआ है। परमात्मा से प्रार्थना करता हूं कि वह मुझे सद्बुद्धि प्रदान करें व कर्तव्य का पालन कराते रहें। तुम्हें आशीर्वाद भेजता हूं।

श्री वालजीभाई, प्रभुदासभाई, श्री वसुमतीबेन तथा अन्य मित्रों को मेरा वन्देमातरम् कहना।

जमनालाल का आशीर्वाद

शैल आश्रम, अल्मोड़ा
२३-५-३३

चि० कमल,

तुम्हारा बंबई से लिखा पत्र मुझे यहां १९ तारीख को मिला।

चि० रामकृष्ण का स्वास्थ्य सुधरा है, ऐसा तुम्हें भी महसूस होता होगा।

मुझे हमेशा तुम्हारे आलस्य व लापरवाही के स्वभाव की थोड़ी चिंता रहा करती है। वाकी तो संतोष है। चि० रामकृष्ण के कारण भी तुम्हें अपना आलस्य हटा देना चाहिए, जिससे उसमें आलस्य की आदत न पड़ने पाये। मेरा यह अनुभव व विश्वास हो गया है कि जिस किसी के शरीर में आलस्य भरा हो या जिसकी लापरवाही के कारण आलस्य की आदत पड़ गई हो, वह कभी भी जवावदारी का सुखकारक जीवन नहीं विता सकता। मेरा वालकपन से लाड़-चाव के कारण शरीर स्थूल व आलसी था, परन्तु मैंने हमेशा पूरा उद्योग करके बालकपन से ही जवावदारी का जीवन विताने की कोशिश रखी, उसका मुझे अव प्रत्यक्ष लाभ व सुख मिल रहा है।

जमनालाल का आशीर्वाद

वर्धा, ३१-१०-३३

प्रिय कमल,

तुम्हारा २१ ता० का पत्र मिला। मैं इन दिनों काफी व्यस्त रहा। मदनमोहन ने तुम्हारे स्कूल की पुस्तिका मेरी फाइल में रख दी है, जव समय मिलेगा तव देखूंगा।

मैंने तुम्हारे स्कूल के उद्‌घाटन-समारोह पर अपना संदेश पहले ही भेज दिया है। आशा है, समय पर मिल जायगा।

इससे वढ़कर प्रसन्नता मुझे क्या होगी कि मैं तुम्हें जल्दी ही एक ऐसे सुशिक्षित नवयुवक के रूप में देखूं जिसकी तमाम शक्ति देश के हित में लगी हो!

शिक्षा चाहे कितनी ही गहन व व्यापक क्यों न हो, उसको ग्रहण करने का कोई अर्थ नहीं यदि वह सही मार्गदर्शन न करे और जीवन के वास्तविक अर्थ को समझने में सहायक न हो। एक वात और याद रखने को कहूंगा—और वह यह कि ज्ञान-प्राप्ति का कोई निश्चित राज-मार्ग नहीं होता। ज्ञान-प्राप्ति के

लिए तो व्यक्ति को 'तपस्या' करनी पड़ती है। मस्तिष्क को केवल (विशेष) महत्त्वपूर्ण विषयों पर केंद्रित करने के लिए ट्रेनिंग देनी पड़ती है। मनुष्य को उसकी लगाम दृढ़ता से थामनी पड़ती है ताकि उच्छृङ्खलता से इधर-उधर न भागे। तुम्हें हमेशा यह सुप्रसिद्ध कहावत याद रखनी चाहिए—

One thing at a time,
And that done well,
Is a very good rule,
That many can tell![1]

यदि तुम्हें अपने मस्तिष्क को सक्रिय बनाना है और उसे 'ट्रेंड' करना है, तो तुम्हें पहले अपने शरीर को स्वस्थ रखना होगा। "स्वस्थ शरीर में स्वस्थ मस्तिष्क।" अतः मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई कि तुमने घुड़सवारी शुरू कर दी है। उसे नियमित रखो। उससे तुममें क्रियाशीलता आयेगी। यह बहुत अच्छी कसरत है। बस इतना ही है कि नियमित रहो। मुझे विश्वास है कि शरीर की तुलना में तुम्हारा मस्तिष्क पीछे नहीं रहेगा।

मैं बापूजी के साथ अखिल भारत के दौरे पर नहीं जा रहा हूं। शायद मध्यप्रदेश के कुछ भागों में ही जाऊं।

रामकृष्ण के बारे में श्री वकील से मेरी ओर से पूछना कि क्या उसे वहां भेजा जा सकता है? यदि हां, तो कब? रामकृष्ण के बारे में उनका पुराना अनुभव कैसा है? क्या उसे वहां अधिक लाभ पहुंचेगा? मुझे उसकी पढ़ाई के बारे में चिंता है। मैं चाहता हूं कि उसकी पढ़ाई के बारे में कोई निश्चित प्रबंध अवश्य हो जाय।[2]

(अंग्रेजी से अनूदित) जमनालाल का आशीर्वाद

---

१. "एक समय में एक काम करो
और वह भी अच्छी तरह;
कई लोग बतायेंगे
कि यही नियम अच्छा है।"

२. मेरी अंग्रेजी की पढ़ाई में मदद हो, इसके लिए श्री महादेवभाई देसाई ने सुझाया था कि मेरे साथ सब लोग अंग्रेजी में पत्र-व्यवहार करें। इसी सिलसिले में काकाजी ने भी कुछ पत्र मुझे अंग्रेजी में लिखे थे।

वर्धा, १३-७-३५

चि० कमल,

तुम्हारा पत्र मुझे बंबई में मिल गया था। मैंने उसे पढ़ा। संतोष हुआ।

चि०......यहां आनेवाली थी। परन्तु कल ही......का तार मिला कि वह नहीं आ रही है।

यह तार पढ़कर थोड़ा आश्चर्य तो हुआ ही, बाद में स्टेशन पर डा०...... मिला था। उसे मैंने अलग ले जाकर पूछा तो मालूम हुआ कि चि०......अभी तक संबंध का निश्चय नहीं कर पाई है। मन डांवाडोल है। यह सुनकर आश्चर्य हुआ और थोड़ा बुरा भी लगा, परन्तु मैंने उसी समय......को कह दिया कि अब बात चारों ओर फैल गई है। तथापि चि०......को संतोष नहीं है तो इस संबंध के विषय में फिर से विचार किया जा सकता है। क्या तुम्हें बंबई में इसका पता नहीं लग सका! खैर, कोई बात नहीं, तुम चिंता बिलकुल मत करना। जो कुछ होगा वह ठीक होगा। हां, तुम्हें ऐसी हालत में चि०......से पत्र-व्यवहार बंद कर देना चाहिए। उसका पत्र कोई तुम्हारे पास आये तो पहले मुझे भेजने का खयाल रखना। तुम परेशान मत होना।[1]

---

१. जहां मेरे संबंध की बात पक्की हुई थी, वह बाद में टूट गई। उसी की चर्चा इस तथा आगे के पत्रों में है। ता० १७-७-३५ को एक पत्र उन्होंने सुश्री......को भी लिखा था जो इस प्रकार है:

चि०......

तुम्हारे पिताजी के तार व पत्र से तुम्हारी इच्छा यह संबंध नहीं रखने की मालूम हुई। थोड़ा बुरा तो मालूम हुआ; परन्तु मैंने तुम्हें पहले ही कह रखा था कि आखिर तक तुम्हें छूट रहेगी। उसी मुताबिक पत्र मिलते ही मैंने लिख दिया था कि तुम्हारी इच्छा कम है, तो तुम्हें संकोच में डालकर और किसी प्रकार का दबाव डालकर संबंध रखना उचित नहीं। तुमने मेरा पत्र पढ़ा होगा। हां, मुझे तुम्हारे विचार-परिवर्तन का निर्णय पहले मालूम हो जाता तो ज्यादा ठीक रहता। खैर! जो कुछ हुआ या होता है वह ठीक ही है। अगर तुम खुद मेरे पास आकर अपने विचार प्रकट रूप से कह देती और फिर यह संबंध टूटता तो मुझे ज्यादा संतोष रहता। परंतु अब इसका कोई विचार नहीं करना है।

४५

कोलम्बो, १८-७-३५

पूज्य काकाजी,

दो रोज पहले मैंने आपको तार और पत्र भेजा था। आज आपका दूसरा पत्र मिला।

आप मेरी तरफ से पूरा विश्वास रखिये। मेरी चिंता नहीं करें। यह तो मामूली चोट है। मुझे तो राजनीतिक कार्य करने की महत्वाकांक्षा है, उसमें असफलता की जो चोटें सहनी पड़ेंगी, वे और भी भारी होंगी। मुझे विश्वास है कि इस तरह की चोटें सहन कर हताश और निराश होने के वजाय मैं अपने को और भी मजबूत, संयमी और दृढ़ वना सकूंगा।

कौन जानता है ईश्वर ने मेरे पूर्व कर्मों के दंड-रूप ही यह शिक्षा दी हो, या वह मेरी परीक्षा लेना चाहता हो। मुझे ईश्वर में पूरा विश्वास है। सिवाय भले के आजतक उसने मेरा और कुछ नहीं किया। जो-कुछ बुरा किया मालूम होता था वह भी कालांतर से समझ में आ जाता था कि खूव वचा और मैं ईश्वर को हमेशा धन्यवाद देता रहा। मैं आलसवश प्रार्थना आदि नहीं करता, परन्तु मैं अपने को ऐसी परिस्थिति में नहीं डालता कि ईश्वर मुझे अपने (ईश्वर के) अस्तित्व के वारे में भुलावा दे।

मेरा यदि कुछ भी विकास हो रहा है तो यह ईश्वर के प्रति आंतरिक

मैं तो तुम्हें यह पत्र इसलिए लिख रहा हूं कि मैंने तो तुम्हें लड़की कहकर माना है, और ईश्वर की इच्छा रही तो मानता रहूंगा। जहां कहीं भी तुम रहो तुम्हारी सव तरह से उन्नति चाहता रहूंगा। तुम अगर ठीक समझो तो मुझसे उपरोक्त संबंध व पत्र-व्यवहार विना संकोच चालू रख सकती हो। अगर तुम मुनासिव समझो तो अपने विचार-परिवर्तन का खानगी पत्र मुझे भेज सकती हो। अगर संकोच मालूम हो तो कोई आवश्यकता नहीं। मेरे पास इस संबंध के वारे में तुम्हारे जो पत्र वगैरा हैं क्या वे तुम्हें भेज दिये जांय? तुम्हारा भविष्य का क्या प्रोग्राम है? कहां पढ़ने का निश्चय किया है? इस संबंध के टूटने के बारे में पूज्य वापूजी से कह दिया है व चि० कमल को भी लिख दिया है।

जमनालाल के आशीर्वाद

श्रद्धा, भक्ति और प्रेम की वजह है। यही वजह है कि मैं हमेशा संतोषी और आनंदी रहता हूं। इसलिए आपका ऋणी कह कर आपके ऋण को मैं कम नहीं करना चाहता, परन्तु पू० विनोबाजी का भी मैं हमेशा के लिए ऋणी हो गया हूं। मेरे भाग्य से मुझे ऐसे कई मौके आये जब कि उनकी ईश्वर में अटल भक्ति और विश्वास देखकर मैं अचंभित हो जाता था। यद्यपि इस वस्तु की शक्ति की मुझे पूरी कल्पना नहीं है फिर भी उसकी उपयोगिता और कीमत से मैं वाकिफ हूं। पू० बापूजी में भी यही शक्ति है जिससे वह इतनी दृढ़ता, निडरता और आत्म-विश्वास से काम करते हैं।

एक तरह से तो यह बहुत ही अच्छा हुआ कि संबंध टूट गया। मैं जब भी अपने भावी कार्यक्रम का विचार करता था मुझे इस छोटी उम्र में शादी कर लेना बहुत खटकता था। मुझे विमान आदि चलाने, और भी कई 'एडवेन्चर' के कार्य करने की इच्छाएं थीं। वे शादी करने के बाद उस तरह पूरी नहीं कर पाता। मेरी जवाबदारी और ही कुछ हो जाती। इसलिए मैं जब······को अपने जीवन का साथी बनाने का वचन दे चुका था, मैं अपने विचारों को हमेशा उसी को केंद्रित करके करता था।

पर संभव है कि यदि मेरी शादी नहीं हुई तो मेरा पतन भी हो, परन्तु मेरी उन्नति करने का मौका भी मुझे उसी में ज्यादा है। मैं पतित होने से घबराता नहीं, मुझे पाप का डर नहीं परन्तु मैं उससे खबरदार होने की कोशिश करता हूं। पूज्य बापूजी ने जो लिखा था कि "हजूं कमल ने घड़ववानु घणु बाकी छे" उसका मुझे पूरा खयाल है। मेरी कमजोरियों को मैं ज्यों-ज्यों अनुभव करने लगता हूं मेरा आत्मविश्वास बढ़ते ही जाता है।

मुझे जब-जब ऐसे विचार आते थे कि शादी करना बंधन में पड़ना, मैं उन्हें रोक देता था। परंतु अब ईश्वर ने मुझे फिर एक मौका दिया है कि मैं अच्छी तरह सोच लूं। फिर मुझे सबसे ज्यादा संतोष और सुख इसका है कि संबंध टूटा तो वह भी अपनी ओर से नहीं। मैं नहीं समझता, इससे ज्यादा और क्या भला हो सकता था!

इस नई परिस्थिति का लाभ लेते हुए यद्यपि मैं आपको आज निश्चित रूप से नहीं लिख सकता हूं कि मैं आगे शादी करना पसंद करूंगा या नहीं, क्योंकि उस तरफ मैंने विचार करने की चेष्टा ही नहीं की। इतना ही नहीं, विचार

आते थे तो रोकता था। फिर भी, अभी यही अच्छा है कि कहीं भी मेरे संबंध के विषय में अपनी तरफ से चर्चा न करें। शायद एक या दो महीने के भीतर मैं आपको निश्चित कुछ कह सकूंगा।

मेरी यही इच्छा है कि परमात्मा मुझे आपका विश्वासपात्र बनाये और वह शक्ति दे जिससे मैं आपकी आशाओं को कार्य-रूप में परिवर्तित कर सकूं।

आपने मुझे लिखा कि जरूरत समझूं तो मैं आपके पास चला आऊं ; यह पिता के नाते आपको शोभा देता है। परंतु आप मेरी तरफ से निश्चिंत रहिये। सामान्य बेचैनी के सिवाय जब मैं विचार करता हूं तो मेरा बोझा मुझे बहुत हलका मालूम देता है। शायद संबंध का टूट जाना मेरे अभ्यास के लिए भी अच्छा साबित होगा। अब मुझे एकाग्र होने का ज्यादा अच्छा मौका है।

परिस्थिति को देखते हुए मैंने······को तथा उसके पिताजी को पत्र लिखना जरूरी समझा। उनकी नकलें आपको भेजता हूं। आप अपनी राय लिखियेगा।

मेरे यहां होते हुए यदि मुझे यूरोप जाने का पासपोर्ट मिल सकता हो तो आप कोशिश कर देखियेगा। पू० बापूजी को तथा पू० महादेवभाई को प्रणाम कहें। विशेष कुशल!

आपके बालक
कमल के प्रणाम

वर्धा, २२-७-३५

चि० कमल,

तुम्हारा १८-७ का पत्र आज मिला। तुम्हारे विचारों में ईश्वर पर विश्वास देखकर मन को सुख मिला। ईश्वर तुम्हारी सद्बुद्धि बनाये रखे। मेरा तो हरदम आशीर्वाद व ईश्वर से प्रार्थना है कि वह तुमको सच्चाई के मार्ग पर कायम रखते हुए देश की सेवा के लायक बनाये। फिलहाल तो मैं तुम्हारे संबंध का विचार नहीं करूंगा। तुम पूर्णतया समझ-विचारकर जब मुझे लिखोगे या मुझसे मिलोगे, तब ही विचार करना है।

इस घटना से मेरे विचारों में भी थोड़ा फर्क हुआ है। उस संबंध में तुमसे मिलने पर विचार-विनिमय होगा। मेरी समझ से तुमने जो पत्र······को तथा उसके

पिताजी को भेजे, उनकी भाषा-भाव तो ठीक हैं, परंतु तुम्हें अव एक वारगी पत्र-व्यवहार उनसे वंद ही कर देना चाहिए। उनकी दृष्टि से यह ठीक होगा। अन्यथा उनपर नैतिक दवाव पड़ने या फिर से आकर्षण पैदा होने का डर है। अपनेको इस प्रकार अव खेंचना तो है नहीं। और अगर पत्र भेजो तो भी मेरे ही मार्फत भेजना उचित है। कोई जवाव आये तो लिखना। मेरे पत्र का हाल में कोई जवाव नहीं आया है। तुम्हारे पासपोर्ट के वारे में तुम जव दिसंवर में आओगे, तव विचार करना ठीक रहेगा। आजकल १०-१५ दिन तो मेहमान व कमेटी की धूम रहेगी।

जमनालाल का आशीर्वाद

शैल आश्रम (अल्मोड़ा)
१०-९-३५

प्रिय कमल,

मेरा कानपुर से भेजा हुआ पत्र मिला होगा। तुमने ध्यानपूर्वक पढ़ा होगा। तुम्हारी जो राय हो, यह मुझे साफ तौर से लिख भेजना। मेरे मन में तो यही जंच रही है कि अगर चि०......प्रसन्नतापूर्वक तुमसे संबंध करने को तैयार हो तो तुम तो यही संवंध सवसे ज्यादा पसन्द करते होगे। अगर मेरी यह समझ सही न हो तो तुम्हें साफ कह देना चाहिए, क्योंकि अव यह प्रश्न मैं अपनी पद्धति से तय करना चाहता हूं। अगर किसी कारण से तुम्हारा मोह या प्रेम न रहा हो तो साफ लिख भेजना। अगर तुम्हें इस संबंध से संतोष है तो मुझे तो रहेगा ही। परन्तु मन में दो ही प्रश्न उठते हैं। एक तो चि०......वहुत मजबूत (स्वास्थ्य में) नहीं है, दूसरे उसपर पश्चिमी ढंग के वातावरण का अधिक असर है। शायद हम लोग चाहते हैं उस प्रकार के धार्मिक तथा नैतिक सिद्धांतों पर उसका विश्वास दृढ़ नहीं दिखाई देता। अगर उसमें सत्य का आग्रह होता तो इतनी कमजोरी सामने नहीं आती। तुम्हारे अंदर पूरा आत्म-विश्वास हो कि इस नाजुक व उड़ने-वाली लड़की से संबंध हो जाने पर भी सुखी रह सकोगे और उसे भी अपने मार्ग पर लाकर सुखी वना सकोगे, तो मुझे फिर कोई चिंता नहीं रहती। मैंने तो उसे भुवाली में वचन दिया था, उसी प्रकार उसे लड़की का प्रेम देता रहूंगा व उसकी उन्नति चाहता रहूंगा। तुम इस पत्र का जवाव यहां भेज सकते हो। मेरा यहां तारीख २० तक रहना होगा।

४९

मेरे साथ यहां चि० सफिया, नर्मदा, दादा धर्माधिकारी, दामोदर व कानपुर से जानकी देवी भी साथ हैं। जानकी व नर्मदा तो कानपुर में गंगा में डूबते-डूबते बच गईं। यह एक ईश्वर की दया का ही कारण है। जो होता है, वह ठीक होता है।

मुझे लगता है कि तुम्हारा समय फिजूल की लिखा-पढ़ी तथा अन्य वातों में विशेष चला जाता होगा। तुम्हें अव अपनी परीक्षा की खूव अच्छी तैयारी का खयाल रखना चाहिए।

व्यायाम, मन में दृढ़ संकल्प, लगन व खान-पान में हलका भोजन व कम आहार रखने से आलस्य कम होगा और उत्साह व स्फूर्ति ज्यादा मालूम दे सकेगी। तुम खुद ही विचार करते हो, तव मुझे चिंता करने का कोई कारण नहीं रह जाता है।

जव कभी समय मिला तो तुम्हें बौद्ध धर्म का सही ज्ञान प्राप्त कर लेना चाहिए। मुझे तो बुद्ध के जीवन से वहुत लाभ पहुंचा है। और भी पहुंचना संभव है। यहां आराम व शांति ठीक मिल रही है।

श्री दादा धर्माधिकारी से जैसे-जैसे परिचय वढ़ता जाता है, सुख मिलता है। वह विद्वान और सुलझे हुए व्यक्ति हैं।

चि० सफिया तो अव कमला, मदालसा, नर्मदा के माफिक हो गई है।

चि० दामोदर खूव ही प्रेम से सेवा व मेहनत करता है।

जमनालाल के आशीर्वाद

वर्धा, ७-१२-३५

चि० कमल,

तुम्हारा पत्र मिला। तुम्हारे स्वास्थ्य के समाचार जानकर चिंता होती है। तबीयत सुधारने की दृष्टि से यहां आना आवश्यक प्रतीत होता हो तो तुम यहां आ सकते हो। अन्यथा मेरे खयाल से यहां आने में तुम्हारा समय व्यर्थ ही नष्ट होगा।

तुम फेल होकर विलायत जाओ, यह कल्पना मुझे ठीक नहीं लगती। इसमें प्रतिष्ठा को धक्का ही लगता है। और फिर यदि यहां सफलता नहीं मिल सकती, तो वहां सफलता मिल ही जायगी, इसमें संदेह होता है। परंतु इसका यह

अर्थ नहीं कि तुम अपना स्वास्थ्य विगाड़कर भी अभ्यास करो। तबीयत अच्छी नहीं रहती हो तो यहां आ जाना अच्छा है। मुझे उसमें सतोष है। फेल होने का अर्थ तो यही है कि उस कार्य में अपना मन नहीं लगता। सहज ज्ञानवाला होशियार विद्यार्थी परीक्षाओं में फेल हो, इसका कोई कारण नहीं दीखता। यहां आना होगा तो यहां अभ्यास नहीं हो सकेगा, इस बात का पूरा खयाल रखकर ही आना चाहिए। स्वास्थ्य के लिए परीक्षा का मोह छोड़कर भी आ सकते हो।

जमनालाल का आशीर्वाद

कोलम्बो, १०-१२-३५

पूज्य काकाजी,

आपका पत्र मिला। भारत आने के बारे में अभी मैं कुछ निश्चय नहीं कर पाया हूं।

विलायत जाने के विषय में मेरा ऐसा कहना नहीं है कि मैं नापास होकर ही विलायत जाऊंगा। लेकिन किसी कारणवश सफल न हुआ, तिसपर भी मैं विलायत जाऊंगा, इसमें मैं किसी प्रकार की हानि नहीं देखता। प्रतिष्ठा में यदि धक्का पहुंचेगा तो वह नापास होने से पहुंचेगा, विलायत जाने से नहीं।

एक कार्य को हाथ में लेकर उसमें सफलता प्राप्त करना सर्वथा उचित ही नहीं, प्रशंसनीय है। लेकिन किसी कारणवश सफलता प्राप्त नहीं करने से यदि प्रतिष्ठा को धक्का लगता है, तो ऐसी प्रतिष्ठा को मैं कीमत नहीं करता।

आखिरकार मुझे यही देखना है कि मेरा ज्यादा-से-ज्यादा लाभ किधर है। यदि ऐसा करने में कुछ लोगों को गलतफहमी हो जाय तो उसे मैं नहीं बचा सकता, न मुझे उसकी परवाह ही करनी चाहिए।

असमर्थता तो इस बात की है कि जून की परीक्षा के रिजल्ट अगस्त २२ को इंग्लैंड में मालूम हो सकते हैं और सितम्बर की परीक्षा की आखिरी तारीख अप्लीकेशन के लिए अगस्त २५ है। यदि मैं पास हो गया तो मुझे सितम्बर की परीक्षा में बैठने की जरूरत नहीं। अन्यथा सितम्बर में परीक्षा देने से (क्योंकि यह परीक्षा तब इंग्लैंड में देनी होगी) अक्तूबर के पहले उसका रिजल्ट आ जाता है और मैं १९३६ के अक्तूबर में ही कालेज में भरती हो सकता हूं। इसमें

भी असफल होने पर जैसा कि मैंने पहले लिखा है, 'लिटल गो' नाम की परीक्षा देकर भी भर्ती हो सकता हूं। इस परीक्षा के लिए एक-दो रोज पहले अप्लीकेशन दे देना काफी होता है।

मान लिया कि इतना सब करने पर भी कालेज में भर्ती न हो पाया तो यहां जनवरी १९३६ में न बैठकर विलायत में दूसरी परीक्षा में बैठूंगा। और इसी विषय का अध्ययन करूंगा कि एक होशियार 'कामनसेन्स' वाला लड़का आखिर एक ही परीक्षा में कितनी बार नापास होता है।

सब तरह से असफल होने से जो चार-पांच वर्ष विलायत में खराब करने की इच्छा है, वह चार-पांच महीनों में ही पूरी करके यशस्वी हो घर लौट आऊंगा।

यदि प्रतिष्ठा पर इससे धक्का पहुंचता है तो मेरी प्रतिष्ठा होगी तभी तो पहुंचेगा! अभीतक मैंने किया ही क्या है, जिससे मेरी प्रतिष्ठा हो। आपके पुत्र कहलाने मात्र से यदि कुछ झूठी प्रतिष्ठा जबरदस्ती मेरे पल्ले बंधी होगी तो उसके नष्ट होने में किसी प्रकार की हानि मैं नहीं देखता। कम-से-कम दुनिया तो आपके लाड़ले बेटे की कीमत कर ही लेगी और सिर्फ, आपका पुत्र हूं, इस वजह से 'एक्सप्लाइट' होने से बचेगी।

इतने पर भी आप यही अच्छा समझें कि मुझे यहीं से परीक्षा पास करके जाना चाहिए तो जनवरी तक मैं यहां रहने को तैयार हूं।

मेरे स्वास्थ्य के बारे में चिंता न करें। करने की जरूरत हो तो अभ्यास के विषय में ही है। विशेष कुशल।

कमल के प्रणाम

वर्धा, १-२-३६

चि० कमल,

इन दिनों मेरे नाम तुम्हारा कोई पत्र नहीं आया। मैं भी तुम्हें नहीं लिख सका। मुझे भी यह मास प्रायः चिंता में बिताना पड़ा। पहले पू० बापूजी के स्वास्थ्य की चिंता थी, बाद में तीन-चार विवाहों की व्यवस्था वगैरा की रही। आशा है, अब शायद थोड़ा आराम मिल जाय। दस-बारह दिन में पांच विवाह हुए व दो सगाई का निश्चय हुआ। विवाह प्रह्लाद-पन्ना, भैंरू-मणी, सफिया-सादुल्ला, अमरचन्द पुंगलिया-स्नेहप्रभा (विधवा, साथ में दो वर्ष की लड़की), राधाकृष्ण-

अनसूया के हुए। यहां खूब मित्र-मंडल जमा हुआ था। काफी भीड़ रही। सगाई चि० कृष्णदास गांधी की मनोज्ञादेवी (हीरालालजी अग्रवाल की कन्या) से की गई हैं।

चि० सीता (गंगाविसन की लड़की) की सगाई की वात भी हुई है। सगाई अभी पक्की नहीं हुई है। जल्दी ही होना संभव है। लड़का अमरावती कालेज में फर्स्ट ईयर में पढ़ता है। २१ वर्ष का है।

वर्धा, कलकत्ता, वम्वई में प्रायः तुम्हारी याद की गई। तुम्हारे विवाह संबंध के वारे में मेरी राय तो तुम जानते ही हो। विवाह करके ही तुम्हें यहां से यूरोप जाना चाहिए। मेरी इस राय में लगभग अन्य सव ही गुरुजनों की राय भी शामिल है। जैसे पू० वापू, काका सा०, जाजूजी, विनोवा आदि। अव रहा लड़की का प्रश्न। वैसे तो कई लड़कियों के प्रस्ताव हैं, पर इस समय दो प्रस्ताव खास मेरे सामने हैं। उनमें से एक कानपुर के पास फर्रुखावाद में है। श्री रामकुमारजी ने उसकी वहुत तारीफ की है। दूसरी कलकत्ता में है जिसके वारे में पंडित नेकीरामजी शर्मा, सीतारामजी सेक्सरिया, वसंतलालजी मुरारका तथा अन्य मित्रों ने कहा है। मेरा इस समय इस लड़की की ओर झुकाव है।

यह ताराचन्दजी घनश्यामदास वाले लक्ष्मणप्रसादजी पोद्दार की लड़की सावित्री है। इस वार मैट्रिक की परीक्षा देगी। इस लड़की सहित परिवार के सव सदस्य यूरोप हो आये हैं। लड़की होशियार व वहादुर है। हवाई जहाज चलाना भी सीखने का निश्चय किया है। घोड़े आदि पर बैठती है। अंग्रेजी ढंग से हाल में रहती है। पिछले वर्ष मैंने लड़की को देखा था। लड़की के पिता श्री लक्ष्मण-प्रसादजी तो विलकुल तैयार हैं। आखिरी फैसला तो तुम्हारे लड़की को देख लेने तथा लड़की के तुम्हें देख लेने पर ही हो सकेगा। लड़की की उम्र १६ के करीव होगी। तुम्हें इस विषय में जो कुछ कहना हो, वह मुझे लिखना। मैं एक वार कलकत्ता जाकर श्री लक्ष्मणप्रसादजी व सावित्री से खुलासेवार वात कर लेना चाहता हूं। कई सामाजिक व राजनैतिक कारणों से भी मुझे यह कलकत्तेवाला संबंध ज्यादा अच्छा मालूम देता है। अभी इसकी चर्चा तुम अन्य मित्रों से पत्र द्वारा न करना।

तुम्हारा स्वास्थ्य ठीक रहता होगा। पढ़ाई ठीक चलती होगी। परीक्षा खतम करके ही आने का विचार है या वीच में ही आना होगा? लिखना।

तुम्हें यह तो मालूम हुआ ही होगा कि चि० नागर (गंगाविसन का भाई) १७ वर्ष का हो गया था। काशी-का-वास के पास वाघ आया। उसे देखने दो लड़कों के साथ वह गया था। वाघ ने उसपर हमला किया। घायल होने पर भी वह वहादुरी के साथ चलता हुआ पैदल घर आया। उसे इलाज के लिए सीकर ले जाया गया था। वहां तीसरे रोज चल वसा। उसने खूव वहादुरी व हिम्मत दिखाई। इसका पूरा वर्णन तुम्हें वाद में भेजूंगा। चि० गुलावचन्द सीकर गया है। विवाह के समय इस घटना से मन में विचार तो जरूर रहा।

जमनालाल का आशीर्वाद

कोलम्बो ३-२-३६

पूज्य पिताजी,

आज वहुत दिनों के वाद आपको पत्र लिख रहा हूं। मेरा अभ्यास-क्रम ठीक चलता है। इकोनामिक्स में मुझे डर लगता है अन्यथा पास होने की आशा रखी जा सकती है। टेनिस खेलना मैंने शुरू कर दिया है। दस-एक रोज से खेलता हूं। मेरे मास्टर कहते हैं कि टेनिस हमेशा खेलता रहूं तो दो-तीन वर्ष में अच्छे खिलाड़ी हो जाओगे।

मैं पंद्रह-बीस रोज में ही, विलायत में लंदन मैट्रिक की जो परीक्षा सितम्वर १९३६ में होनेवाली है उसके लिए, फीस भेजनें का निश्चय कर चुका हूं। जिससे यहां जून में किसी कारणवश नापास हो गया तो लंदन में फिर परीक्षा में बैठ सकूंगा।

गंभीरता से सोचने तथा मनन करने के वाद मैं इस निश्चय पर पहुंचा हूं कि विलायत मुझे अवश्य जाना है और परिस्थितियों को देखते हुए मुझे देर-से-देर अगस्त में ही हिंदुस्तान से निकल जाना चाहिए।

विलायत में मैं निम्न प्रकार का अध्ययन पांच वर्ष में पूरा करना चाहता हूं:

१—अर्थशास्त्र (मुख्य विषय), इसके साथ राजनीति, बैंकिंग या कामर्स आदि अन्य विषय, जो मुझे वहां जाकर उपयोगी जान पड़ें, लूंगा। इसकी बी० ए० (इकोनामिक्स) की डिग्री लूंगा। साथ ही बैरिस्ट्री भी करनी है। यदि संभव हुआ तो यूरोप के भिन्न-भिन्न देशों की दो यूनिवर्सिटियों में मिल कर इस अध्ययन को पूरा करना है। इंग्लैंड और फ्रांस या जर्मनी अथवा और किसी अन्य देश में—जिससे राजकीय तथा स्वतंत्र राष्ट्रों की शिक्षा दोनों का लाभ मिले। यह तो

कालेज-शिक्षा हुई। इसके अलावा जितने प्रकार की मुख्य राजनीतिक विचार-धाराएं, खासकर पाश्चात्य देशों में, प्रचलित हैं, उनका पारस्परिक तथा तुलनात्मक अध्ययन हिंदुस्तान की परिस्थिति के दृष्टिकोण में लेते हुए तथा ऐतिहासिक दृष्टि से करना है।

२—विमान चलाना तथा किसी भी एक खेल में, जैसे—टेनिस, क्रिकेट, हाकी, फुटवाल आदि (खासकर टेनिस) में निपुणता प्राप्त करने की चेष्टा करना, तथा शौक के रूप में छुट्टियों आदि में घुड़सवारी, तैरना, स्केटिंग, फोटोग्राफी, बोटिंग, टाइपराइटिंग-शार्टहैंड आदि का ज्ञान, जो थोड़ा-वहुत है भी, तो उसको ठीक तरह से हस्तगत करना।

३—जितना भी संभव हो, किसी धर्म का ऐतिहासिक, सामाजिक, राजनीतिक तथा व्यावहारिक दृष्टि से विश्लेषण करते हुए, बौद्ध, इस्लाम तथा हिन्दू धर्म का समन्वयात्मक दृष्टि से ज्ञान प्राप्त करना।

४—भ्रमण में यूरोप तो पूरा घूमना ही है, और हो सके तो आते-जाते समय अमेरिका, चीन, जापान का भी भ्रमण करना है।

इतना कोर्स पूरा करने के लिए मैं चार वर्ष पर्याप्त समझता हूं। इसके अलावा एक वर्ष दक्षिण अमेरिका में अमेजन या दक्षिण अफ्रीका में कांगो प्रदेश या आर्कटिक प्रदेश अथवा अन्य कहीं (हिन्दुस्तान में ही) 'एक्सप्लोरेशन' (खोज) की भी महत्त्वाकांक्षा भरी है। इसकी मैं अपने चरित्र तथा मानसिक प्रगति के लिए जरूरत समझता हूं।

खर्च का मुझे वरावर अंदाज नहीं है, पर मेरी समझ है कि निम्न प्रकार खर्च होगा :

१—कालेज-शिक्षा तथा बैरिस्ट्री, रहना, खाना, पीना इत्यादि १५०००)
२—वैमानिक शिक्षा ५०००)
३—भ्रमण, खोज-जांच, कपड़े-लत्ते, बीमारी व अन्य खर्च ५०००)

मैंने तो अपनी तरफ से हिसाव करते समय ठीक-ठीक गुंजाइश रखी है। परन्तु शिक्षा में १५०००) पूरे होंगे या नहीं, इसमें जरा शंका है। थोड़े कम-ज्यादा हो सकते हैं, पर सव मिलकर २५०००) से ज्यादा खर्चा नहीं होना चाहिए, ऐसी मेरी समझ है।

विवाह के संबंध में मैं इस निश्चय पर पहुंचा हूं कि अभी कम-से-कम

५५

तीन वर्ष तक किसी भी हालत में (विलायत जाऊं या न जाऊं) कुछ नहीं करना है। उसके वाद परिस्थिति के अनुकूल जो कुछ भी उचित मालूम दे, उस प्रकार देखा जायगा।

विलायत जाते समय भी मैं किसी भी प्रकार की प्रतिज्ञा आपके या अन्य किसीके सामने नहीं करूंगा। लेकिन किसी भी समय, किसी भी कारण से अथवा विना कोई कारण वतलाये भी आप या पूज्य वापूजी मुझे हिन्दुस्तान लौट आने का आग्रह करेंगे या मुझे इस प्रकार आने का आदेश देंगे, तो में अपना सारा कार्यक्रम छोड़कर एकवार आना तो कर्तव्य समझूंगा।

इन विषयों पर आपके विचार मुझे मालूम हैं। उन सवका विचार करते हुए ही मैंने आपको यह पत्र लिखा है। अव मेरा जून के पहले तो वहां आना संभव है नहीं, तथा जून में आने के वाद समय इतना थोड़ा रहेगा और मुझे विलायत जाने की तैयारी भी करनी पड़ेगी।

४-२-३६

आपका पत्र अभी-अभी मिला। विवाह के विषय में मैं किसी भी तरह का विचार करने के लिए अपनेको अभी तैयार नहीं पाता हूं। आप सव लोगों की सलाह के विरुद्ध यह निश्चय करते हुए मुझे काफी दुख रहा। मुझे यह भी खयाल है कि ऐसे निश्चय से मैं अपनी जिम्मेदारी वहुत वढ़ा लेता हूं। इतना सव होते हुए मैं दूसरा किसी भी प्रकार का निश्चय करने के लिए अपनेको असमर्थ पाता हूं। फिर भी आप लोगों की आज्ञा होगी तो मैं श्रद्धापूर्वक विवाह के लिए अनुमति दे भी दूंगा। लेकिन ऐसा करने में मैं अपने प्रति तथा जिस लड़की से विवाह करूंगा उसके प्रति पूरा न्याय करने से वंचित रहूंगा। आपका पत्र मिलने के पूर्व जो विचार मैं लिख चुका हूं, वे ज्यों-के-त्यों अभी कायम हैं। मुझे पूरा विश्वास है कि आप मुझे मेरे जीवन को जोखिम में देखते हुए भी स्वतंत्रता देंगे। यदि किसी भी समय मुझे विवाह करने की इच्छा हुई तो मैं पहले आपको ही इत्तिला दूंगा, इसका आप पूरा भरोसा रखें। मैंने कोई किसी तरह की प्रतिज्ञा तो की नहीं है।

नागर की वीरोचित मृत्यु सुनकर दुख तो हुआ, लेकिन और किसी तरह

मरने से इसी तरह मरना ठीक था। मैं अपने लिए भी ऐसी ही मौत को पसंद करूंगा। भगवान जाने, इतनी हिम्मत और बहादुरी मेरे में है या नहीं।

बालक
कमल के प्रणाम

सावरमती, १२-२-३६

चि० कमल,

चरखा-संघ की बैठक के लिए मैं यहां आया था। तुम्हारा पत्र मुझे यहां आने पर मिला।

चि० सतीश का पत्र एक तरह से ठीक मालूम हुआ। लड़का होनहार है इसमें तो मुझे कोई संदेह है ही नहीं। यदि तुम्हारा इंग्लैंड जाने का निश्चय हो जाय तो यह मेरी भी राय है कि किसी संस्कारी, चरित्रवान अंग्रेज कुटुम्ब में ही तुम रह सको तो विशेष लाभदायक हो सकता है। बहुत-सी बातें स्वाभाविक तरह से सीखने को मिल जांयगी।

विवाह-संबंध के बारे में तुम्हें विशेष आग्रह न करने के लिए और एक प्रकार से तुमको स्वतंत्रता देने के लिए भी मैं तैयार हो जाता, परंतु मेरे सामने जिन होनहार लड़कियों के प्रस्ताव हैं, उनको देखते हुए अन्य गुरुजनों की सलाह को ध्यान में रखते हुए, मैं तुम्हारे हित की दृष्टि से ही इस बात को सामने रख रहा हूं। सतीश भी तो संबंध करके ही यहां से गया है।

पर मेरी बात रहने भी दो तो भी यदि पू० बापू एवं विनोबा को संतुष्ट कर सकोगे तो फिर मेरे पास कुछ अधिक कहने को नहीं रहेगा।

सारी बातों का विचार करते हुए मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि छुट्टियों में तुम इधर आ सको तो आना ठीक होगा। कांग्रेस में भी हाजिर रह सकोगे। अबकी बार प्रदर्शनी का भी एक नया रूप देखने को मिलेगा। वातावरण भी नया रहेगा। तुम उस तरफ घूमना चाहते हो तो इधर भी घूम सकते हो। पू० बापू एवं पू० विनोबा से बातें भी हो सकेंगी। इससे भविष्य का प्रोग्राम निश्चित करने में सहायता मिल सकेगी। मौसम गर्मी का होने की वजह से धूप की कुछ तकलीफ तो रहेगी, परंतु इससे तुम डरोगे नहीं, ऐसी आशा है।

सतीश का पत्र अंबालाल पटेल को पढ़ने के लिए दिया है। काका साहब

के साथ वह यहां मिला था। अंवालाल की इच्छा भी विवाह करके ही यूरोप जाने की है, ऐसा कल उसने व काका साहव ने मुझे कहा है। कई होनहार नवयुवक, जो विवाह किये विना यूरोप वगैरा गये हैं, उनके जीवन में काफी धक्का पहुंचा है। मुझे तो जितने विचारवान व भविष्य के सोचनेवाले मिले हैं, उनमें से प्रायः सभी की यही राय सामने आई है कि विवाह करके ही वाहर भेजना ठीक है। तुम और विचार करो। तुम्हारी छूट्टी कव से क़वतक है, लिखना।

श्री कु० म्यूरियल लेस्टर (वापू की लंदन की मेजवान) तारीख २२-२-३६ को कोलम्बो जा रही है। तुम्हारा पता उन्होंने कल लिख लिया है। तुम्हारे वारे में मैंने उनसे वात भी की है। तुम भी हो सके तो जरूर मिल लेना; भली वाई है।

जमनालाल का आशीर्वाद

कोलम्बो, १९-४-३६

पूज्य काकाजी,

कल सुवह आपका तार मिला। पंडित जवाहरलालजी ने समाजवादी लोगों को कार्यकारिणी समिति में लेकर मेरी समझ में अच्छा ही किया है। लेकिन मुझे शंका है कि कहां तक कांग्रेस का वहुमत पंडितजी की नई कार्यकारिणी समिति से संतुष्ट होगा। पंडितजी को राष्ट्र ने सभापति चुना है और पंडितजी ने कार्यकारिणी समिति को चुना है, इस नाते वे संतुष्ट हो सकते हैं। मुझे भी लगता था कि पंडितजी की कार्यसमिति में एक-दो समाजवादी तो होने ही चाहिए।

मेरी समझ से श्रीमती कमलादेवी चट्टोपाध्याय को उन्हें समिति में जरूर लेना था।

उन्होंने सारी परिस्थिति को देखकर ही चुनाव किया है। श्रीयुत अच्युत-पटवर्धन उत्साही नवयुवक जरूर हैं, पर शायद इनकी जगह पर श्रीमती चट्टोपाध्याय का चुनाव ज्यादा उपयुक्त होता। इसका यह मतलव नहीं कि अच्युतपटवर्धन कार्यसमिति के सदस्य होने लायक नहीं हैं।

अध्ययन ठीक चलता है। स्वास्थ्य अच्छा है। आपका आगे का प्रोग्राम लिखें।

वालक
कमल के प्रणाम

'कांते वर्दे' जहाज पर से
११-७-३६

पूज्य काकाजी,

वम्वई से जहाज में वैठने का हाल तो मां और उमा द्वारा मालूम हुआ ही होगा।

समुद्र में तूफान तो काफी है। हमारी केविन की खिड़की, जो समुद्र से ४०-५० फुट ऊंची है, हमेशा वंद रखनी पड़ती है क्योंकि उसमें भी ऊपर तक पानी उछलकर आ जाता है।

हम २५ लोगों में से मैं और दूसरे दो-तीन ही ऐसे हैं जिन्हें समुद्र का असर विलकुल नहीं हुआ। वाकी लोग तो दो रोज तक काफी तकलीफ में रहे। आज कुछ अच्छे हैं। दो-चार रोज में सव अच्छे हो जावेंगे, ऐसी आशा है।

जहाज इतना हिलता है कि पत्र लिखने में भी दिक्कत आ रही है।

आपके तथा पू० वापूजी के पत्र वम्वई में मिल गए थे।

आपके पुत्र होने में काफी जिम्मेदारी मालूम होती है। जितनी स्वतंत्रता से मैं विचार करना पसंद करूं, उतना नहीं कर पाता। शायद यह अंकुश मेरे लिए लाभदायक ही सावित हो। परन्तु यह अंकुश भी अंकुश है, इसलिए मुझे पसंद नहीं है। वड़े वाप का वेटा होना कोई सहज खेल नहीं है। ऐसे बेटे को काफी सहना पड़ता है। इतना जरूर है कि मैंने कम-से-कम सहा है और ऐसी मुसीवतें आगे भी कम-से-कम ही सहता रहूंगा।

वड़े वाप का बेटा होते हुए भी मुझमें काफी ऐसी वातें है जो सर्व-साधारण वच्चों में पाई जाती है। ऐसे ही गुणों पर मेरा आधार है और विश्वास है। वही मेरी पूंजी है, जिससे कि मैं अपना भविष्य वनाने चला हूं।

मदालसा से मिलकर इस समय मुझे वहुत सुख हुआ। उसका विकास सर्वथा उचित व योग्य ही हो रहा है। जिन गुणों का मैं भूखा हूं और जो जीवन मुझे आदर्श मालूम होते हैं, वे उसके आचरण में स्वाभाविक रूप से आ रहे हैं। उसे पूरी स्वतंत्रता देने में मुझे किसी प्रकार का डर या संकोच नहीं है। यद्यपि मैं परदेश जा रहा हूं, फिर भी मैं जितनी स्वतंत्रता मदालसा के लिए जरूरी समझता हूं, उतनी स्वतंत्रता की मैं अपने लिए कल्पना भी नहीं कर सकता। वह मालवाड़ी में भी रहकर ज्यादा स्वतंत्रता से रह सकती है, मैं लंदन में भी रहकर

आपके आदेश में रहूंगा। उसकी स्वतंत्रता में आपने कमी की तो उसकी उन्नति में वाधा आवेगी और जितनी स्वतंत्रता मैं जवरदस्ती आपसे ले लूं, उससे कहीं आपने मुझे ज्यादा दी, तो मेरी अवनति अनिवार्य है। मदालसा की स्वतंत्रवृत्ति है, मेरी स्वच्छंद प्रवृत्ति है। एक को आपको उत्साहित करना चाहिए, तथा दूसरे को निरुत्साहित करना चाहिए। आजतक तो आपका वर्ताव ऐसा ही रहा है। आगे, चूंकि मैं परदेश जा रहा हूं, आपको मेरी तरफ से ज्यादा सचेत होने की आवश्यकता जरूर है। आप और जिन लोगों पर मुझे श्रद्धा है वे मुझे दूर से भी काबू में रख सकते हैं; जवकि अन्य लोग साथ में रहते हुए भी मुझे अपने वश में नहीं रख सकते।

इस चीज को आप समझे नहीं है, ऐसा नहीं है। मैंने दूसरों से सुना भी है कि यही वात आपने दूसरे रूप में औरों से मेरे वारे में कही है। परंतु मेरा इस वात को स्पष्ट कर देना ज्यादा जरूरी है। यद्यपि इससे आपको कोई नई वात नहीं मालूम हुई, तव भी मेरा दिल हलका हो जाता है।

उमा के लिए मैंने काफी सोचा है। उसका प्रश्न वड़ा कठिन है। उमा के और मेरे कई गुण-दोषों में समानता है। वह अकेले अपनी जिम्मेदारी पर कहीं ज्यादा रही नहीं इस कारण विचार-शक्ति, हिम्मत, आत्म-विश्वास आदि गुणों का विकास करने का उसे उचित अवसर नहीं मिला।

वह लड़की है। यह भी उसकी एक सवसे वड़ी कमी है। यदि वह लड़का होती तो उसका सवाल भी, जितना मेरा सवाल था या है, उससे ज्यादा कठिन नहीं होता।

वालक
कमल के प्रणाम

वर्लिन, २९-७-३६

पूज्य काकाजी,

आपको मेरी गये सप्ताह भेजी हुई खवर मिली होगी। पोर्ट सईद के वाद आप लोगों में से किसी का भी खत अभीतक नहीं मिला है।

वर्लिन की आव-हवा वहुत अच्छी मालूम होती है। अभीतक तो सूरज हर रोज निकलता है, ठंड ज्यादा नहीं पड़ती। कभी-कभी दिन में भी थोड़ी गर्मी

मालूम होती है। वरसात बीच-बीच में कभी घंटा-आधे-घंटा हो जाती है। दृश्य वगैरा यहां वहुत सुंदर है। वर्लिन इतना वड़ा शहर होते हुए भी वाग-वागीचों की यहां कमी नहीं है। इससे शहर में काफी हरियाली वनी रहती है। जर्मन लोग खुली हवा खूब पसंद करते हैं। यहां 'ओपन एयर थियेटर' भी हैं। वह देखने लायक हैं। अप्राकृतिक रूप से उसे वनाया गया है। फिर भी आसपास की प्राकृतिक सुंदरता काफी अच्छी मालूम देती है।

नाजी सरकार यहूदी लोगों और अनार्य लोगों से वहुत कड़ा व्यवहार करती है। हिन्दुस्तानियों को भी सामान्यतः नीची निगाह से देखती है। वर्षों से यहां रहनेवाले भारतीय नाजी सरकार के इस व्यवहार से संतुष्ट नहीं हैं। इतना होते हुए भी आजकल तो विना कुछ भेदभाव के वे सवकी खूब खातिरदारी करते हैं। ओलम्पिक में भाग लेनेवाले प्रत्येक सदस्य को उन्होंने 'आइडेंटीफिकेशन कार्ड' दिये हैं, जिसपर सदस्य की फोटो होती है। उस कार्ड से वे वर्लिन के अन्दर वस, ट्राम आदि में मुफ्त आ-जा सकते हैं। खाने-रहने का भी हम सव लोगों का इंतजाम मुफ्त है। हम लोग जहां भी जाते हैं, जनता खूब कुतूहल, आश्चर्य तथा श्रद्धा से हमारा सम्मान और सत्कार करती है। अभी तक पता नहीं कितने लोगों को अपने हस्ताक्षर हमें देने पड़े होंगे। जहां जाते हैं वहां सैकड़ों की तादाद में लोग चित्र खींचत हैं। यहां की जनता तथा सरकारी नौकर भी वड़ी सभ्यता से पेश आते हैं। हमारे आराम के लिए वे हरेक प्रकार का काम-काज करने को तैयार रहते हैं। रास्ता भूल जाने पर यहां के लोग अपना काम छोड़कर बड़ी खुशी से दो-दो तीन-तीन फरलांग और कभी-कभी तो मील-मील, दो-दो मील तक हमें पहुंचाने स्वयं आते हैं। इतना सव तो वे दुनिया पर अपनी अच्छी छाप डालने के लिए करते हैं। जनता इसलिए उत्सुक रहती है कि उन्हें हम लोगों से वात करने को मिल जाता है।

यहां के लोग काफी संस्कृत, सभ्य तथा आनंदी मालूम देते हैं। हिन्दुस्तानियों की तरह उन्हें जिंदगी भार-स्वरूप नहीं मालूम देती, वल्कि वे अच्छी-से-अच्छी जिंदगी विताने को तत्पर रहते हैं।

नाजी सरकार ने ओलम्पिक खेलों के लिए अरबों रुपया खर्च किया है। अलग-अलग खेलों के लिए अलग-अलग स्टेडियम वनाये हैं और वह भी एक-से-एक वढ़कर। छोटे-से-छोटा स्टेडियम भी, जो शायद टेनिस, वालीवाल, वास्केटवाल

आदि खेलों का होगा, उसमें भी २० से ४० हजार आदमियों के बैठने की व्यवस्था है। ऐसे सब स्टेडियम कुल मिलाकर दस-बारह तो होंगे। बड़े-से-बड़ा स्टेडियम, दस लाख आदमी बैठ सकें, ऐसा बनाया है। २०-२५ हजार लोग खड़े भी रह सकते हैं। वह स्टेडियम तो एक अद्‌भुत चीज मालूम होती है।

इतना सब पैसा बर्बाद करने का मुख्य उद्देश्य तो मुझे यही लगा कि सारी दुनिया पर यहां की सरकार अपना प्रभाव डालना चाहती है। इसके साथ-ही-साथ खेलों तथा व्यायाम पर वह खूब जोर देना चाहती है। जर्मनी में सैनिक शिक्षा सबके लिए अनिवार्य है। यहां की सैनिक शिक्षा तथा उसके नियम देखकर मुझे घृणा-सी हो गई है। इसमें शक नहीं कि यहां के लोगों ने खेलों में, भिन्न-भिन्न व्यायाम करने की पद्धति में तथा सैनिक शिक्षा में आश्चर्यजनक सफलता प्राप्त की है। लेकिन शिक्षा यहां की इतनी कड़ी होती है कि मनुष्य-मनुष्य न रहकर मशीन हो जाता है। हिटलर और मुसोलिनी, दोनों जनता को ऐसी ही जीती-जागती मशीन बनाने में लगे हैं। ये लोग अपने देश की आत्मा पर ही आघात कर रहे हैं। इन देशों का भविष्य मुझे उज्ज्वल नहीं मालूम देता। यूरोपियन सैनिक-शिक्षा से जिस प्रकार की मनोवृत्ति बन जाती है, उससे विश्व-युद्ध अनिवार्य-सा मालूम देता है। एक बड़ी मशीन में जिस प्रकार उसके तमाम पुर्जों में एकता रहती है, उसी प्रकार यूरोपियन राष्ट्रों में, खासकर जहां सैनिक शिक्षा अनिवार्य है, जन-समूह में एक प्रकार की एकता तो जरूर है लेकिन वे मशीन के पुर्जों के माफिक जुड़े हुए मालूम देते हैं। आत्मिक एकता की बनिस्बत शारीरिक एकता पर ही ज्यादा महत्व दिया जाता है।

यहां पर देखना तथा घूमना वगैरा तो होता ही है, लेकिन अन्य राष्ट्रों के जो खिलाड़ी आये हुए हैं, उनसे चर्चा करने में मैं काफी समय देता हूं और इससे मुझे बहुत जानकारी मिलती है। दुनिया के लगभग सभी देशों के नवयुवक यहां जमा हुए हैं। उनके रीति-रिवाज, आचार-विचार सहज में ही जानने को मिलते हैं। नवयुवक सभी देशों के करीब-करीब उदार दिल के व विस्तृत विचारवाले मालूम देते हैं। कई देशों की ऐसी टीमें भी आई हैं जो अपने काम में कुशल हैं। मुझे यहां आने से खेलों की बनिस्बत अन्य जानकारी ही ज्यादा लाभदायक मालूम देती है। इस मौके का मैं पूरे-से-पूरा लाभ उठाने की कोशिश करता हूं।

यहां पर कैम्प का जीवन विताना पड़ता है तथा यूरोपियन सैनिक कम्प तथा उसका जीवन किस प्रकार होता है, इसका भी अच्छा अनुभव मिल रहा है।

इस पत्र पर लगी टिकटें ओलम्पिक के समय खास जारी की गई टिकटें हैं। उसका पूरा सेट धीरे-धीरे इकट्ठा करके रामकृष्ण को भेजूंगा। ये टिकटें थोड़े दिन तक ही चलेंगी। काम में लाई हुई ये टिकटें भी आज कम दामों पर नहीं विकती हैं। इसका पूरा सेट संभालकर रखने को उसे कह दीजियेगा। आगे जाकर इस सेट की कीमत काफी वढ़ जायगी, ऐसा लगता है।

साथ के पत्र पू० वापूजी तथा महादेवभाई को दे देवें। मेरी किसी प्रकार चिंता नहीं करें। लन्दन पहुंचने तक आपको एयर मेल से हर सप्ताह पत्र भेजता रहूंगा। मैं डायरी नहीं लिखता। डायरी की वातें आपको पत्रों में ही लिख दिया करूंगा। इससे इन पत्रों को आप अपने पास अलग फाइल में या सावित्री रखना चाहे तो उसे रखने दीजियेगा। हिन्दुस्तान के समाचार नहीं मिल रहे हैं। आपके पत्रों की राह आतुरता से देख रहा हूं। विशेष कुशल!

आपके वालक
कमल के प्रणाम

वर्धा, २४-९-३६

प्रिय कमल,

तुम्हारा ११-९ का पत्र वम्वई से तुम्हारी मां के पास से मेरे पास आया। तुम कोलम्बो की परीक्षा में उत्तीर्ण नहीं हुए, वाद में लन्दन में परीक्षा में बैठे, उसमें भी आशा कम है, यह मालूम हुआ। मुझे खुद को तो परीक्षा का मोह नहीं है और तुम सफल नहीं हुए, उसका विशेष विचार भी नहीं है। परन्तु मैंने तुम्हें वहुत समझाकर कहा है कि तुम इस प्रकार की परीक्षा की पढ़ाई का मोह छोड़ सको तो तुम्हारे लिए ज्यादा अच्छा है। तुम एक वार, दो वार, तीन वार फेल होते रहो, यह मुझे तुम्हारे भविष्य की दृष्टि से कुछ ठीक मालूम नहीं देता। तुममें बुद्धि व विचार-शक्ति तो काफी है, परंतु परीक्षा के लिए जिस प्रकार के परिश्रम व वृत्ति की आवश्यकता है, वह न तुममें है और न मुझमें। इसलिए मेरी तो वही पहलेवाली ही राय है कि तुम सव तरह का ज्ञान थोड़े समय में प्राप्त कर यहां

आने का विचार रखोगे तो तुम्हारे लिए ज्यादा लाभदायी सिद्ध होगा। इतने पर तुम्हारी इच्छा।

चि० रामेश्वर के बारे में तुमने जो राय लिखी है, वह प्राय: ठीक मालूम देती है। उसका भी एक छोटा-सा सुंदर पत्र आया है। तुम्हारे लिए ठीक राय लिखी है।

चि० उमा को यूरोप भेजने के बारे में तुम्हारे विचार जाने। मुझे विशेष उत्साह नहीं है। तुम्हारे आने पर तुमने क्या लाभ प्राप्त किया, वह देखने के बाद उसका आग्रह होगा तो भेजना ही होगा; अन्यथा विवाह के बाद ही जाना ठीक रहेगा।

चि० सावित्री के साथ तुम्हारी सगाई हो गई, उससे तुम्हें संतोष रहता है, जानकर सुख होता है। चि० सावित्री के लिए मेरे मन में भी खूब प्रेम व आशा बढ़ रही है। परमात्मा ने किया तो वह भी एक होनहार बालिका निकलेगी। दिसम्बर में तो वह मेरे पास रहेगी ही। बन सका तो उसे नवम्बर में ही बुला लेने का विचार है।

तुम्हारा यह पत्र भी मैंने सावित्री के पास खासगी निशान कर भेज दिया है।

बापू के संबंध की श्री वकील की भविष्यवाणी (१८ अक्तूबर को दिन के १० बजे हार्टफेल होने की) गलत ठहरी, इसका तो समाधान है। परंतु उनकी भविष्यवाणी से तुम्हारी मां बहुत चिंतित रही। यहां भी थोड़ी चिंता रही और कुछ व्यवस्था रखनी पड़ी। बिना कारण तार का खर्च भी हुआ। मुझे तो विश्वास नहीं था। भविष्य में तुम भी खयाल रखना।

ता० २० को आशादेवी के बालक का नामसंस्कार था। करीब १२५ लोगों को निमंत्रित किया था। श्री राजेन्द्रबाबू व खान साहब भी थे।

जमनालाल का आशीर्वाद

६४

डब्लिन, ३१-१०-३६

पूज्य काकाजी,

जुहू से लिखा आपका पत्र ता० १२-१० को मिला।

मां का स्वास्थ्य सुधर रहा है; जानकर बहुत सुख होता है। उसका

स्वास्थ्य अच्छा रहा तो उसकी चिंता भी मिटेगी। मानसिक शांति मिलने से उसे सभी प्रकार लाभ पहुंचेगा। आपको तो आराम मिलेगा ही, लेकिन अपने घर का आधे से ज्यादा फिजूल सोच कम हो जावेगा। अब एक बार वह बिलकुल स्वस्थ हो जाय तो किसी प्रकार का भय फिर नहीं रह जाता।

उमा की सगाई तो कर देने में हर्ज नहीं है। मुझे कभी-कभी लगता था कि अपने उदार स्वभाव तथा बड़ों के प्रति आदर होने की वजह से वह कभी-कभी संकोच कर जाती है। कुछ आदर्शों को सामने रखकर विवाह करने की अपेक्षा अपनी रुचि व इच्छा के अनुसार उसे विवाह करने की पसंदगी होनी चाहिए। आपसे वह शायद उतनी खुलासेवार बात अपनी रुचि के हिसाब से नहीं कर पाती, जितनी वह मेरे साथ कर लेती है। आज से चार-पांच वर्ष पहले जब आप मुझसे ऐसी बात करते थे, तब, यद्यपि मैं आपसे काफी साफतौर से बातें करता था, फिर भी आपके आदर्शों का प्रभाव मुझ पर पड़ता था और मेरे विचारों पर उसका गहरा असर होता था। कभी-कभी तो ऐसा भी मेरे मन में लगता था कि आप तो उदार हैं और अपनी उदारता और आदर्शों के बीच हम बच्चों को, पता नहीं, कहां फंसा देंगे।

मैं पूरी तरह समझता था कि आप सब तरफ से सोचेंगे; पर जैसा अपने घर का वातावरण है, उसके प्रति श्रद्धा और प्रेम रखते हुए अपनी रुचि के अनुसार, जरूरत हुई तो, भिन्न मार्ग लेने के लिए काफी आत्म-विश्वास, हिम्मत, होशियारी तथा नम्रता की जरूरत होती है।

उदाहरण के लिए, आश्रम की लड़कियों के प्रति मुझे हमेशा श्रद्धा रही है। वे आदर्श गृहिणियां होंगी, इसमें भी मुझे शंका नहीं थी, फिर भी मैं किसी आश्रम की लड़की से विवाह करने को तैयार नहीं होता। मुझे आदर्श लड़की नहीं चाहिए थी। मैं चाहता था मुझे मेरे ही माफिक कोई शैतान लड़की मिले। चरखा-तकली के प्रति श्रद्धा हमेशा रही। इसी प्रकार प्रार्थना में भी मेरा पूरा विश्वास है। पर जबतक चरखा, तकली और प्रार्थना मेरे जीवन के अंग नहीं बन जाते, मैं ऐसी लड़की से विवाह कर पूरा सुख प्राप्त नहीं कर सकता था जो कि चरखा, तकली और प्रार्थना आदि इसी प्रकार के आदर्शों के प्रति समर्पित हो। मैं यह जरूर चाहता था कि लड़की ऐसी जरूर हो जो आदर्शों को माने, लेकिन स्वयं आदर्शमूर्ति न हो।

८५

अपनी इस रुचि को आप लोगों के सामने रखना एक जटिल समस्या थी। मेरे मन में छिपाने का कुछ भी भाव नहीं है, पर आप लोगों के सामने अपने विचारों को किस प्रकार रखना, यह मुझे पहले-पहल तो नहीं समझ पड़ता था। आगे जाकर मैं किस प्रकार अपना चाहा आप लोगों को समझा सका और अभी तक करता आया, यह अब भी मुझे आश्चर्य-सा मालूम होता है। ऐसी परिस्थिति में उमा के मन में उसके न चाहते हुए भी किसी प्रकार का संकोच रह जाता हो तो मुझे आश्चर्य नहीं होगा।

जब सीलोन में था तब यह नहीं सोचा था कि विलायत जाने के पूर्व मैं अपनी सगाई की अनुमति दे दूंगा। चर्चा होने पर अपने बारे में न सोच कर बहनों के बारे में ही सोचता था। पर जब समय आया तो मैंने संबंध तो अपना कर लिया और बहनों के बारे में सोचता ही रहा। उनसे कह भी नहीं सका कि उनके लिए मैं क्या सोचता हूं। सबसे ज्यादा मैं उमा के संबंध के लिए ही सोच रहा हूं। अपने संबंध में मुझे कभी ज्यादा सोचना नहीं पड़ता।

लड़कियां दिल की ज्यादा साफ होने के कारण उन्हें ज्यादा आकर्षण होता है। उमा को जबतक किसी लड़के के लिए आकर्षण नहीं हो, मेरी राय में, तबतक उसका संबंध नहीं करना चाहिए।

उमा का संबंध करने में यदि आप मेरा वहां किसी प्रकार उपयोग समझें तो लिखिये। मैं १९३७ की गर्मी तक आने की कोशिश करूंगा और मुझे आने में उत्साह भी रहेगा। अपना विवाह करनें का मुझे स्वयं अभी उत्साह नहीं है। सावित्री को यदि विवाह करने से कुछ लाभ मिल सकता हो तो मैं भले ही विवाह जल्दी भी करलूं, पर उससे मेरा सारा प्रोग्राम अस्त-व्यस्त हो जायगा।

जुहू में आप जगह ले रहे हैं, सो ठीक। मेरे ध्यान में कोई खास प्लाट अभी नहीं आ रहा है। मैं चाहूंगा कि जहां तक हो सके, घर के चारों तरफ काफी खुली जमीन रहनी चाहिए।

चार-पांच गाय, दो-चार घोड़े, एक-दो मोटर, एक-दो विमान के रहने का जगह तो वहां होनी ही चाहिए। यदि ये चीजें नहीं भी हुईं तो गांधी सेवा-संघ की मीटिंग के लिए ही वह जगह काम आ सकेगी। मेरे कहने

का मतलव इतना ही है कि मैदान आपको काफी लेना चाहिए। खाड़ी के पास की जमीन लेना ठीक नहीं होगा। वहां का पानी वड़ा सड़ता है। आप स्वयं भी इन सव वातों को सव तरह से सोच तो लेंगे ही।

दो नई भाषाएं सीखनी हैं, इससे काम काफी करना पड़ता है। आपको अव १५-२० रोज के अंतर से पत्र दिया करूंगा। पत्र न आवें तो चिंता न करें। यहां के प्रोप्राइटर की स्त्री अच्छी वाइ हैं, और मेरे लिए खास खाना वनवाती हैं। गरम कपड़ों का पूरा इंतजाम है। वरफ पड़ेगी तो कमरे में आग जलाने का बंदोवस्त है।

विशेष कुशल।

कमल के प्रणाम

वर्धा, २०-२-३७

प्रिय कमल,

तुम्हारे ता० ६ व ९-२ के पत्र मिले थे।

परीक्षा आदि के वारे में तो मेरे विचार वही हैं, जो तुम्हें कई बार साफतौर से कहे हैं। मेरी इच्छा तो यही है कि तुम कुछ और समय तक वहां का सव प्रकार का साधारण अनुभव लेकर भारत वापस आओ। श्री लक्ष्मणप्रसादजी की इच्छा जल्दी विवाह करने की है। वह भी पूरी हो जायगी। उसके वाद ही चि० सावित्री का यहां रहना संभव दिखता है। पहले भेजने की उनकी इच्छा कम है। चि० सावित्री का सव दृष्टियों से यहां रहना बहुत ही जरूरी है। यहां आने पर तुम्हें व्यापार का काम हाथ में ले लेना चाहिए। साथ में थोड़ा अभ्यास भी जारी रखा जा सकता है। एक-दो वर्ष वाद तुम्हारी इच्छा हो तो तुम कुछ समय के लिए फिर जा सकते हो। अन्यथा चार-पांच वर्ष विना किसी खास परिणाम के व्यर्थ जाते नजर आते हैं। मुझे तो यह भी डर है कि शायद फिर तुम व्यापार के लायक न रहो, क्योंकि फिर उसकी आदत छूट जावेगी। यदि तुम शांत-चित्त से इस पर विचार करोगे तो मेरी सलाह में तुम्हें जरूर वजन दिखाई देगा। मुझे तो लगता है कि तुम ऐसा नहीं करोगे, तो बड़ी भूल होगी। मेरी यह इच्छा होते हुए भी आखिर तुम जो उचित

समझोगे या परमात्मा तुम्हें जिस प्रकार की बुद्धि प्रदान करेगा, उसमें संतोष मान लूंगा।

जमनालाल का आशीर्वाद

जुहू, ३-६-३७

प्रिय कमल,

तुम्हारा २६ तारीख का पत्र मिला। तुम 'स्पेशल एंट्रेंस' परीक्षा में पास हो गए, यह अच्छा हुआ। विशेष खुशी नहीं मालूम होती; क्योंकि तुम्हारी मां कहती है कि यदि तुम परीक्षा में फेल हो गए होते तो तुम्हारे हिन्दुस्तान में रहने में ज्यादा सुविधा होती।

तुमने जो 'रजिस्टर्ड मेरिज' के वारे में लिखा था सो उसके लिए श्री लक्ष्मणप्रसादजी तथा चि० सावित्री और उनकी माता कोई भी तैयार नहीं है। यदि उनमें से कोई तैयार होता तो हम कह सकते थे, परंतु जब कोई भी तैयार नहीं है तो हम उन्हें किस तरह से आग्रह कर सकते हैं।

विवाह कलकत्ते में ही होगा। विवाह में आदमियों को ले जाने के वारे में तीन विचार हैं: (१) केवल ५ आदमियों को, (२) १० या १२ आदमियों को, (३) २५ आदमियों को। आदर्श तो केवल पहला ही हो सकता है। विवाह में धार्मिक रीति के अलावा और कोई आडम्बर नहीं होगा। कलकत्ते के इष्ट मित्र वहीं शामिल हो सकते हैं। वैसे यदि निमंत्रण पत्रिका वाहर भेजें तो सैकड़ों आदमी आ सकते हैं।

पूज्य वापूजी को विवाह में सम्मिलित होने का आग्रह करने का उत्साह मुझे नहीं होता है। वैसे भी वह कलकत्ता जाना पसंद नहीं करते हैं।

वरात में तुम कम आदमी ले जाना पसंद करो तो ठीक ही है; अन्यथा जो तुम्हारी राय हो, जहाज पर से ही तार कर देना।

जमनालाल का आशीर्वाद

६८

मोरांसागर, २२-३-३९

प्रिय कमल,

वहुत दिनों वाद तुम्हारा १६-३ का लिखा हुआ पत्र कल शाम को मिला। साथ में तुम्हारी मां व उमा के पत्र भी मिले।

श्री हीरालाल कारीवाल का झुंझुनू का मकान शायद अपने पास गिरवी है। उसकी कार्यवाही की जा सकती है। चिरंजीलाल जब बंबई जाय तब उनसे पूछ सकता है। मकान के अलावा पहले जो रकम दी हुई है, वह तो उनकी सुविधा से ही वसूल करने का खयाल रखना है।

श्री नौरोजी (बेलगांववाले) से रुपये वसूल हो सकते हैं तो कोशिश करने में हर्ज नहीं। क्रानिकल-वालों से तो फैसला कर लिया गया था। बंबई कोई जाय तो बेलगांव-वालों से मिलकर वातचीत कर सकता है, या पत्र दिया जा सकता है।

रामनरेशजी त्रिपाठी का फैसला चिरंजीलाल के जिम्मे छोड़ दिया जाय तो वह कर लेगा। उनके कई पत्र आये हुए हैं। पहले वे सब पढ़ लेने चाहिए। मेरी तो राय है कि मूल के रुपये या थोड़े-बहुत कम-ज्यादा आ जाने चाहिए। चिरंजीलाल जब कभी उधर जाय तब श्री मार्तण्ड उपाध्याय की सलाह से पुस्तकें लेकर फैसला कर सकता है। तुम और रामेश्वर वहां हो तो उससे सलाह ले लेना। नालिश करने की मेरी इच्छा नहीं है। उनसे बहुत वर्षों पुराना संबंध है। अपनी तरफ से जहां तक हो, वहां तक प्रेम से समस्या सुलझाने की कोशिश करनी चाहिए।

श्री चिरंजीलाल को तुम्हारे पास ही काम करना चाहिए। इतने पर भी उसकी बहुत ही ज्यादा इच्छा हो जाय तो मई मास में उसे छुट्टी देने का विचार कर सकते हो।

श्री सागरमलजी को कानून से तो पगार देने की जरूरत नहीं है, तथापि बाद में भी वह अपनें यहां काम करनेवाले हों तो आधी पगार देना ठीक होगा। पहले भी हमने आधी पगार ऐसें मौकों पर दी है, ऐसा याद आता है।

जुहू का बंगला सदानन्द को दिया, वह तो ठीक किया। किराया बराबर आये, इसकी ठीक व्यवस्था कर लेनी चाहिए। उसकी तरफ अपनी रकम लेनी थी। उसकी किस्त बराबर आती होगी। नहीं तो खयाल रख कर वसूल करते रहना चाहिए।

जुहू की मोटर का क्या किया? क्या उसे म्हात्रे के साथ व्यवस्था करके टैक्सी में चालू की है या दूसरी व्यवस्था की है? कुएं के पास के प्लाट में झोंपड़ी बनवा ली होगी।

बंगले पर की रेंगी खेती में काम आये तो ठीक है, नहीं तो घोड़े गांव

६९

पर भेज दिये जांय। जब जरूरत होगी तब मंगा लिये जा सकते हैं। चिरंजीलाल की सलाह से जैसा ठीक समझो वैसा करना। घोड़े का तांगा महिला आश्रम में रखकर देखना चाहिए। महीने का कितना काम वहां से मिलता है। थोड़ी कसर भी रहे तो हर्ज नहीं। गांव में भाड़े से चलाना तो घोड़ी को मारना ही होगा। वह ठीक नहीं मालूम देता है।

तुम्हारे लगभग सारे प्रश्नों का खुलासा लिख भेजा है। बाकी तुम्हें वर्धा की तरफ का कोई महत्व का प्रश्न लगे तो चि० गंगाविशन, चिरंजीलाल, द्वारकादास की राय से कर लेना चाहिए। इस बात का पूरा खयाल रखना चाहिए कि किसी के साथ अन्याय न होने पाये। बंबई की ओर के जो प्रश्न हों वे श्री केशवदेवजी की राय से सुलझाये जा सकते हैं।

मेरा जब छुटकारा होगा तब कुछ तो इधर ही रहना पड़ेगा। बाद में पौनार विनोबा के पास रहने की इच्छा है। उसके बिना मुझे पूरी शांति व समाधान नहीं मिलेगा। मेरे ये विचार तुम्हारे खयाल में रहें इसलिए लिख दिया है। मेरी इच्छा अब व्यापार का काम देखने या बंबई ज्यादा जाने-आने की नहीं होती है। उसी तरह सार्वजनिक सेवा भी, नेतागिरी की जवाबदारी से बचकर, आत्म-साधना के साथ-साथ, जिसमें ज्यादा भागदौड़ न करनी पड़े व मानसिक सुख व शांति मिले, उसी प्रकार से सादा जीवन बिताते हुए और अपने ऊपर बहुत ही कम खर्च करते हुए, करने की है।

आज वर्ष का नया-दिन (गुड़ी पड़वा) है। इन दो वर्षों में मुझे वास्तविक शांति व समाधान नहीं मिल सका। इसके लिए जवाबदार तो मैं ही हूं। मुझे आशा है कि जैसी मेरी इच्छा है तुम मेरे लिए वैसा ही वातावरण तैयार कर रखोगे। पचास वर्ष पूरे होने आये हैं। अब जीवन में दूसरी प्रकार का अनुभव लेने की इच्छा बढ़ रही है। वर्तमान स्थिति में मुझे या तो विनोबा के पास समाधान या शांति मिल सकती है या मि० पाठक के पास। वह लन्दन में हैं और उनके पास जाना अब संभव भी नहीं है।

७० चि० सावित्री व मदालसा से कहना कि त्रिपुरी के पूरे अनुभव सविस्तार लिखें। यहां आजकल एकांत में स्वाध्याय, पढ़ने, कातने, विचार करने आदि का तो खूब लाभ मिल रहा है। परंतु हास्य-विनोद का पूरा अभाव रह जाता है। बालकों के इस प्रकार पत्र आते रहें तो उससे विनोद का स्वाद मिल सकता है।

उमा इस काम की सबसे ज्यादा योग्यता रखती है। परंतु वह तो बेचारी परीक्षा की फांसी में फंस रही है। पर शायद वह जल्दी ही मुक्त हो जाय।

अपनी दिनचर्या मैंने ऐसी बनाई है कि दिन-रात बहुत ही जल्दी समाप्त हो जाते हैं। दिन कैसे बीते, यह तो प्रश्न ही खड़ा नहीं होता। दिन जल्दी ही बीत गया और पढ़ना बाकी रह गया, ये विचार भले ही आते हों। यहां के पहरेदारों का व्यवहार ठीक है। वे बेचारे मुझे प्रेम व इज्जत से ही देखते हैं।

किशोरलालभाई की तीनों पुस्तकें पढ़ ली हैं। उनसे ठीक समाधान मिला। आजकल 'सुख व शांति' का मराठी अनुवाद पढ़ रहा हूं। सर्वोदय के आठों अंक यहीं पढ़ सका। इस प्रकार के जीवन में पढ़ने व विचार करने का अच्छा संतोष देनेवाला लाभ मिलता है।

चि० उमा से कहना कि उसका पत्र मिल गया। अंग्रेजी के परचे अच्छे हो गए, सो मालूम हुआ। असली परिणाम तो परीक्षा का नतीजा निकलने पर ही मालूम होगा। परंतु उसे संतोष है, यह खुशी की बात है।

चि० रामेश्वर की मां वहां हों तो मेरा प्रणाम कह देना। नये वर्ष के मेरे प्रणाम पू० मां, जाजूजी, काकासाहब, विनोबा, किशोरलालभाई आदि को कहना। मित्रों को वन्देमातरम् व बालकों को प्रेम आशीर्वाद। अगर संभव हो तो तुम मुझे नीचे लिखी हुई बातों का ब्यौरा लिख भेजना।

बच्छराजजी, सदीबाई (दादी), रामधनजी, बसन्तीबाई, कनीरामजी, माधोजी, बद्री, इन सबकी जन्म तिथियां, तारीखें व मृत्यु की मिती। सन वगैरा तो रोकड़ से मिल सकते हैं। साल और महीना अंदाज से पू० मां, बनसीजी घेलिया व गोरीलालजी की मां को याद होगा। इनमें से बहुतों की जन्म-पत्रिकायें अपने यहां मिल जानी चाहिए। मैं, समय मिलेगा तो, इन सबका थोड़ा-थोड़ा इतिहास जो मुझे मालूम है, लिख रखना चाहता हूं। मेरी जन्म कुंडली इनके साथ भेज सकते हो, जिससे मेरे जन्म का समय व तारीख मालूम हो जाय। अपनी मां से कह देना कि पान के साग के बारे में तो विनोद किया था। यहां पान के सिवा उस समय हरी चीज दूसरी कोई नहीं मिलती थी। अब तो साग की व्यवस्था है, प्रायः एक हरा साग मिल ही जाता है। साग न मिले तो यहां से चार मील पर पका पपीता मिल जाता है।

जमनालाल का आशीर्वाद

पुनश्च—आज यहां मोरध्वज राजा के पवित्र कुंड में खूब स्नान किया है। यह खत पूरा करने के वाद अखवार मिले। वापूजी की आज्ञा से सत्याग्रह बंद किया गया, यह समाचार मिला है। देखें अव ऊंट किस करवट वैठता है ?

ज० व० २३-३-३९

वंवई, ४-१०-४१

पूज्य काकाजी,

इस वार आपसे मिलकर काफी संतोष हुआ। गो-सेवा का काम आपके जिम्मे हुआ है इससे मेरे दिल में काफी खुशी है। यह जवावदारी भी काफी वड़ी है। आपको मेहनत भी पूरी करनी पड़ेगी। लेकिन इसमें यश भी आप-जैसों को मिल सकता है। मुझे तो पूरा विश्वास है कि आगे चलकर आपको इस काम से काफी समाधान मिलेगा।

मैंने आपसे कहा था कि आप लोगों के नैतिक दवाव को सहन नहीं कर सकते और दव जाते हैं और अपने मन की अभिलाषा को स्पष्ट रूप से नहीं कह सकते, इससे उनका नुकसान होता है। आपने अपने विषय में इसका उदाहरण मांगा था। मैं वह इसलिए नहीं कहना चाहता था कि शायद दूसरों के वारे में गलतफहमी हो जाय। मेरी समझ में श्री····· का मामला कुछ इसी तरह का है। मेरी समझ ऐसी नहीं है कि वह सिर्फ शारीरिक परिश्रम से ही बीमार हुआ है। यदि वैसा है तो मुझे अवश्य खुशी है। पर इसको काफी असंतोष रहा है, ऐसी मेरी समझ थी। आप उसके वारे में ज्यादा जानते हैं, इससे ठीक वात तो आपको ही मालूम हो सकती है। चिंतित हृदय पर समय का क्या असर हो सकता है यह आप ही भलीभांति समझ सकते हैं।

आपके सामने मेरी वात होने के वाद पू० केशवदवजी से भी आपकी टेलीफोन में वात हुई। उनका पत्र भी साथ है। वच्छराज कम्पनी के काम की जिम्मेदारी श्री·····लेवें तव तो दूसरी वात होती है। विना किसी जवावदारी के इसका इंटरेस्ट रखना ठीक नहीं दीखता। लेकिन अच्छा तो यह हो कि इसके नाम की कोई एजेन्सी लें और फिर उसमें उसे काम दिया जाय। मैं यद्यपि इसके विरुद्ध हूं, फिर भी आप ठीक समझें तो इस तरह की स्कीम सोची जा सकती है कि जिससे उसका कर्ज चुकता जाय। तवतक वह जवावदारी ले और हमारा भी काम करे। वाद में जैसा आप और ये ठीक समझें।

यदि सम्भव हो और निभ सके तो मेरी समझ है कि श्री...को भी किसी काम में लगाना ठीक रहेगा। श्री...और श्री...दोनों मिलकर काम कर लें तो अति उत्तम। हम लोगों का इंटरेस्ट किस तरह रहे वह भी सोचा जा सकता है।

मैं श्री...को निरुत्साहित नहीं करना चाहता। लेकिन मुझे इसका काम सीधा लग नहीं रहा है और आप पर जवाबदारी ज्यादा हो जायगी। फिर आपको जैसा ठीक लगे वैसा करें। इसके संबंध में निर्णय तो आपको ही करना है। वह तो निर्णय करना जानता नहीं। विशेष कुशल।

आपका वालक,
कमल के प्रणाम

मद्रास, १६-१२-४१

पूज्य काकाजी,

आपके पत्र मिले। श्री सत्यनारायणजी के मार्फत भी एक पत्र मिला। सर सी० पी० से वाद में मिल लिया था। हमें पता नहीं था कि श्री राजाजी ने तार देकर इंतजाम करवा दिया था। मालूम होने से एक रोज ज्यादा ठहरकर सर सी० पी० से मैं मिल लिया था।

हमारा पिछला प्रोग्राम तो आपको मिला ही था। उसके वाद हम लोगों ने तंजौर, चिदंवरम्, पांडिचेरी, तिरुवन्नामलाई और देखा। पहले प्रोग्राम में टैकासी नहीं देख सके थे।

हम लोग यहां तक तो राजी खुशी पहुंच गए हैं। यात्रा काफी अच्छी हो रही है। हम लोग यहां से कल रात को रवाना होकर वैजवाड़ा ठहरेंगे। विजगा-पट्टम में श्री शांतिकुमार मोरारजी को तार देकर शिपयार्ड देखने के लिए प्रबंध किया है। हम लोग ता० २० को कलकत्ता पहुंचेंगे। आगे पत्र देना हो तो वहीं देवें।

रमण महर्षि के आश्रम में हम लोग एक दिन रहे। श्री शंकरलालभाई तथा अनुसूयावहन वहीं हैं। शंकरलालभाई पहले से अच्छे हैं। आश्रम में आपको कई लोग याद करते हैं।

पूज्य विनोवाजी यहां आ रहे हैं यह जानकर मुझे बड़ी खुशी हुई। इधर उनके लिए दो रोज काफी नहीं हैं। राजनैतिक वातावरण भी यहां का पूज्य वापू

के विरुद्ध (पार्लियामेंटरी टाइप का) ज्यादा हो गया है। रचनात्मक काम में लगे हुए कार्यकर्त्ता भी वहुत असमंजस में हैं। पूज्य विनोवाजी को यहां कुछ ज्यादा समय देना चाहिए। उनका इधर पहली वार ही आना हो रहा है। लोग उत्सुकता से उनको सुनना चाहेंगे। सत्याग्रह तो फिर करना ही होगा। इस बीच जनता भी उनको और पहचाने-जाने, यह अच्छा है। पूज्य वापू का संदेश यहां पहुंचाने की वहुत आवश्यकता भी है। विना आपके आग्रह किये यह काम नहीं होगा। पूज्य विनोवाजी स्वतः शायद ही कबूल करें। उनको १०-१५ रोज देकर इस तरफ काफी घूमना चाहिए। आपको ठीक लगे तो इस संबंध में पूज्य वापूजी से भी पुछवा लें। मुझे तो इसकी काफी आवश्यकता मालूम देती है।

पूज्य वापू ने गायों के लिए इन्कार किया सो जाना। पर मेरी समझ से तो इसमें भूल हो रही है। ऐसे मौके कम आते हैं। हम लोग वर्धा रहते होते तो मैं इन गायों को ले लेता।

पूज्य मां इस तरफ जितनी रहे अच्छा ही है। हमने भी उसको पत्र दिया था। उसका आया भी है। मैं और लिख रहा हूं।

पत्र देते रहें। आपका स्वास्थ्य ठीक होगा।

विशेष कुशल,

कमल का प्रणाम

बापू

रामनाम लेते थे कि उसको भूल न जांय,
हम भूल से रामनाम लेते हैं।

०

काकाजी और बापू

काकाजी की वृत्ति वचपन से ही अध्यात्म की ओर थी। जीवन का मूलतत्त्व क्या है, इसकी खोज में वह काफी छोटी उम्र से ही लग गए थे। सद्विचार और साधु-संगति से गुरु की महिमा उनपर प्रकट हो गई थी। ज्ञान-प्राप्ति के लिए वह चाहते थे कि 'बोले तैसा चाले, त्याची वंदावी पाऊलें', स्वामी रामदास की इस उक्ति के अनुसार चलनेवाला जो हो, उसको गुरु वना लें। इसकी खोज में वह बहुत दिन तक भटकते रहे। वह मालवीयजी, टैगोर, लोकमान्य तिलक जैसे महान व्यक्तियों के सम्पर्क में आये, और उनकी कृपा भी प्राप्त की। तन-मन-धन से उन्होंने इन महापुरुषों की सेवा भी की; और इनसे उन्हें प्रेरणा भी काफी मिली। उनके वताये हुए मार्गों पर उन्होंने आचरण किया। लेकिन उनको चाहिये जैसा समाधान तव भी नहीं मिला, और अध्यात्म की प्यास अधिकाधिक तीव्र होती गई।

इस समय तक दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह के कारण गांधीजी की घर-घर में पूजा होने लगी थी। काकाजी उनकी ओर आकृष्ट हुए। उन्हें लगा कि शायद यही ऐसा एक महापुरुष है, जो मेरी अध्यात्म की प्यास का समाधान कर सकता है। गांधीजी की गतिविधि तथा उनके लेखों से जितनी जानकारी काकाजी को हो सकती थी, वह रखने लगे। सन १९१५ में गांधीजी जब भारत लौटे तो फौरन ही काकाजी ने उनसे संपर्क स्थापित किया।

उन्होंने गांधीजी में अध्यात्म के सच्चे स्वरूप को देखा। इतनी लम्बी खोज के बाद एक ऐसा मनस्वी दिखाई दिया, जिसकी कथनी और करनी में साम्य था, जिसके हृदय और बुद्धि में पारदर्शिता थी। अध्यात्म के इस तेज के सामने उन्होंने अपना मस्तक झुकाया और अपना सर्वस्व अर्पित कर वह अपने-आपको धन्य समझने लगे।

साबरमती आश्रम में काकाजी ने अपने और अपने परिवार के रहने के लिए एक छोटा-सा मकान ढाई हजार रुपये लगाकर बनवा लिया था। वह वहां जाकर रहते और बापू के सभी तरह के रचनात्मक कार्यक्रम का बोझा उठाते। साबरमती आश्रम में उस समय बड़े-बड़े ज्ञानी, कर्मठ और तपस्वी आत्मार्थियों का जमघट था। काकाजी पर इस सारे समाज का बड़ा गहरा असर पड़ा। उनके अंतस् में यह इच्छा जागृत हुई कि क्या ही अच्छा हो यदि इस प्रबुद्ध समाज के साथ बापू वर्धा चलें!

●

वर्धा में आश्रम-स्थापना

काकाजी ने बापूजी को वर्धा चलने की विनती की और उनके आश्रम की सारी जिम्मेदारी उठाने की अपनी तैयारी बताई। परन्तु बापू ने कहा कि भारत की सेवा करने का सर्वप्रथम उनका स्वाभाविक क्षेत्र गुजरात ही हो सकता है। काकाजी को भी यह बात जंची। उन्होंने बापू से मांग की कि मुझे ऐसा कोई व्यक्ति दीजिये जो वर्धा में साबरमती-आश्रम की एक शाखा खोल सके।

बापू ने अपने दो-एक पौत्रों के साथ पांच-सात अन्य आश्रमवासियों को

देकर वर्धा में आश्रम खोलने के लिए श्री रमणीकलालभाई को वहां भेज दिया। रमणीकलालभाई का स्वास्थ्य वर्धा में ठीक नहीं रहता था और कुछ महीनों वाद उन्हें वर्धा छोड़ना पड़ा। काकाजी ने वापू से एक योग्य संचालक की मांग की। वापू ने कहा, "जो तुम्हें पसन्द हो, उसे ले जाओ।" काकाजी ने विनोवाजी का नाम लिया और वापू की स्वीकृति के साथ उन्हें वर्धा ले आये।

विनोवाजी के वर्धा आने से वहां के आश्रम-जीवन को नया चैतन्य मिला। विनोवाजी की तपस्या, साधना और स्वाध्याय वहां खूव फूला-फला। दूर-दूर तक इसकी आभा फैली और देश के कई भागों से खिचकर कर्मठ मनीषी वहां एकत्र होने लगे। विनोवाजी के सारे महत्वपूर्ण प्रयोग इसी प्रयोगशाला में हुए। चर्खा, तकली, पिंजन, कर्घे आदि के अनेक वैज्ञानिक शोध भी वर्धा-आश्रम में ही परिपक्व हुए। थोड़े ही समय में वर्धा रचनात्मक प्रवृत्तियों का मूलस्रोत वन गया। महिलाश्रम, चर्खा-संघ, गांधी-सेवा-संघ, ग्रामोद्योग-संघ, गोसेवा-संघ, राष्ट्रभाषा आदि कई अखिल भारतीय संस्थाओं का यहां प्रादुर्भाव और पोषण हुआ। राष्ट्रीय स्कूल, विद्यालय और स्वतंत्र भारत में कांग्रेसी मंत्रीमंडल वनने के वाद कामर्स कालेज भी यहां स्थापित हुआ। हिन्दी एवं प्रादेशिक भाषाओं के माध्यम से अर्थशास्त्र और वाणिज्य शिक्षण एवं उसके लिए आवश्यक पाठ्य-पुस्तकों के प्रणयन का काम भी भारतवर्ष में सवसे पहले यहीं हुआ।

हरिजन-आन्दोलन के काम में भी वर्धा अग्रणी रहा। वर्षों तक काकाजी उसके प्रचार-कार्य और संगठन में जुटे रहे। हमारे परिवार का लक्ष्मीनारायण मंदिर देश का सर्वप्रथम सवर्ण हिन्दू मंदिर है, जो सन १९२८ में हरिजनों के लिए खोला गया था।

●

बापू वर्धा में

जैसे-जैसे वर्धा में राष्ट्रीय प्रवृत्तियां वढ़ने लगीं, वापू का यह नियम-सा हो गया था कि हर वर्ष सर्दियों में कांग्रेस के सालाना अधिवेशन के पूर्व दो-तीन महीने वह वर्धा-आश्रम में विताते थे। उनकी उपस्थिति से वर्धा की राष्ट्रीय संस्थाओं एवं रचनात्मक प्रवृत्तियों को यथेष्ट प्रोत्साहन मिलता रहता।

राजनीतिक दृष्टि से भी वर्धा का महत्व वढ़ने लगा और सभी प्रान्तों के नेता एवं कार्यकर्ता वर्धा आने-जाने लगे। कांग्रेस की कार्यकारिणी की बैठकें भी वर्धा में होने लगीं। फलत: इन सारी प्रवृत्तियों के कारण वर्धा का स्वरूप अखिल भारतीय हो गया।

१९२० में नागपुर कांग्रेस के समय काकाजी ने वापू से प्रार्थना की कि आप मुझे देवदास की तरह अपना 'पांचवां पुत्र' मानें। वापू ने स्वीकृति देते हुए कहा, "इसमें तुम ही मुझे सव-कुछ दे रहे हो। भगवान मुझे इसके योग्य वनावें।"

दांडी-कूच के पूर्व गांधीजी ने प्रतिज्ञा की थी कि जवतक वह स्वराज्य नहीं प्राप्त कर लेंगे, सावरमती-आश्रम में स्थायी रूप से लौट कर न जायंगे। सत्याग्रह के वाद गांधी-इर्विन समझौता हुआ, आन्दोलन स्थगित कर दिया गया। गांधीजी नें अपनी सारी शक्ति शांतिमय रचनात्मक कार्यों में लगा दी। प्रतिज्ञानुसार वह सावरमती आश्रम में तो ठहर नहीं सकते थे।

इस स्थिति को देखते हुए काकाजी ने वापू से अपना अनुरोध दुहराया कि वह स्थायी रूप से वर्धा में ही रहकर अपना कार्य करें। वापू ने इसे मान लिया। वर्धा के लिए वह सवसे वड़ा सुदैव था। वर्धा भारत का सर्वांगीण चैतन्य का ही नहीं, अपितु देश का एक सिरमौर तीर्थ वन गया। लुई फिशर ने अमेरिका के 'एशिया' नामक पत्र में अपनी भारत-यात्रा के संस्मरण लिखते हुए टिप्पणी दी थी कि "मैं जव दिल्ली से वर्धा पहुंचा तो मेरी आंखें खुलीं। मेरे अंत:करण ने मुझे चेतावनी दी कि भारत की राजधानी दिल्ली नहीं, वर्धा है। हजारों प्रणालियों में राष्ट्र का चैतन्य वर्धा में एकत्र होकर वहां से सारे देश में वितरित होता है। इसके विपरीत दिल्ली ऐसा किला लगता है जिसके द्वार देश की आशा-निराशाओं के लिए सदैव बंद रहते हैं।"

वर्धा में कई वर्षों से एक आश्रम विनोवा के मार्गदर्शन में चलाया जा रहा था। उस समय वापू ही देश के बेताज वादशाह थे। वर्धा ही सच्ची राजधानी थी। वर्धा से प्रेरणा लेकर सैकड़ों-हजारों कर्मठ तपस्वी कार्यकर्त्ता देश के कोने-कोने में पहुंचे और उनमें से अधिकांश आज भी वहां निर्माण-कार्य में संलग्न हैं। देश के भाग्य को वनानेवाले ऐतिहासिक

निर्णय अधिकतर वर्धा में ही हुए। स्वतंत्रता प्राप्ति से पूर्व देश का शायद ही कोई ऐसा राष्ट्रीय कार्यकर्त्ता अथवा सेनानी होगा, जो किसी-न-किसी प्रसंग को लेकर वर्धा न आया हो!

वापू वर्धा आये। काकाजी के वगीचे में रहने लगे। वापू के भतीजे और दाहिने हाथ श्री मगनलालजी गांधी का अचानक स्वर्गवास हो गया था। काकाजी भी उन्हें सगे भाई-जैसा मानते थे। उन्हीं की यादगार में काकाजी ने अपना वगीचा, जो कुछ लाखों की जायदाद थी, वापू को अर्पित कर दिया। तभी से उसका नाम मगनवाड़ी पड़ा। वापू की आंतरिक इच्छा किसी देहात में वसने की थी। मगनवाड़ी में रह कर तथा वर्धा को 'गौरवान्वित गांव' (Glorified village) कह कर कुछ अर्से तक समाधान किया। किंतु उनकी आत्मा की तड़प मिटना तो दूर वल्कि अधिकाधिक तीव्र होने लगी। महादेवभाई और काकाजी नहीं चाहते थे कि वृद्धावस्था में वापू अपने जीवनक्रम में इतना कठोर परिवर्तन करें। दोनों को लगा कि वापू के स्वास्थ्य पर देहाती जीवन की कठिनाइयों से कहीं बुरा असर न पड़े! साथ ही वापू के आत्मक्लेश का निवारण भी वह अपना कर्तव्य समझते थे। वापू के संकल्प की महत्ता और उनके उद्देश्य की महानता से भी वह परिचित थे। अतः प्रत्यक्ष विरोध को त्यागकर उन्होंने वापू के सामने अपने अनुरोध को रखा।

●

प्रेम-भरा उलाहना

एक दिन प्रेम-भरे उलाहने में काकाजी ने कहा, "वापू, आप तो सदा अपनी ही देखते हैं, आप नहीं जानते कि देहात में जाने से वा और महादेवभाई पर क्या बीतेगी? आप अपने को भले ही कष्ट दीजिए, पर इन सबकी इतनी कड़ी परीक्षा आप क्यों लेते हैं? साथ ही मेरी भी तो मुसीवत आप वढ़ा देते हैं। देहात में न सड़क होगी, न विजली, न टेलीफोन, न पोस्ट आफिस होंगे। सारी दुनिया से कटकर आप कैसे रह सकेंगे? आने-जानेवालों को कितना कष्ट होगा? कार्यकर्ताओं की परेशानी कितनी वढ़ जायगी? फिर आज तो

आपका व्यक्तित्व ऐसा वन गया है कि किसी भी देहात में चले जाइये, थोड़े दिनों में वहां भी शहर की सुविधाएं हो ही जावेंगी। फिर वर्धा ही क्या वुरा है !"

काकाजी के इस अनुरोध के उत्तर में वापू ने कहा, "जमनालाल, मेरे साथियों ने अपने-आपको मेरे तथा मेरे उद्देश्य की पूर्ति के लिए अर्पित किया है। जो मेरा होगा, वही उनका होगा, इसकी चिंता अव क्यों? हमने दुख, दारिद्र्य, अन्याय एवं अज्ञान से देश को मुक्त करने का व्रत लिया है — यही दरिद्रनारायण की सेवा है। इस व्रत को पूरा करने के लिए जो भी कष्ट सहना पड़े, सहना है; जो भी त्याग करना पड़े, करना है। जिस प्रकार सेना के सिपाही अपने-आपको युद्ध में झोंक देते हैं, वैसे ही हमें प्राणों की परवाह न करते हुए मानवता की सेवा में अपने-आपको खपा देना है। तुम मेरे हो, मुझे अत्यंत प्रिय हो, मेरे व्रत के सहयोगी हो। किंतु तुम्हारे और महादेव जैसे एक-दो नहीं, सैकड़ों साथियों का भी इस व्रत-पूर्ति के निमित्त वलिदान देना पड़े तो मैं सहर्ष दूंगा। वह शुभ दिन हम सवके लिए परम गौरव का होगा।

"मेरे और आश्रमवासियों की व्यवस्था का सवाल जो तुम्हारे सामने है उसे भी मैं समझता हूं। तुम्हारी कठिनाई भी मैं समझता हूं। तुम्हारी कठिनाई सही है। पर, तुम वनिये हो, सही मानों में सफल-समझदार वनिये हो। जव तुम मुझे यहां लाये हो तो इन सारे खतरों और कठिनाइयों के वारे में भी तुमने विचार किया होगा। तुम्हारी शक्ति को परख कर ही मैं यहां आया हूं।

"नेताओं और आने-जानेवालों के कष्ट का सवाल भी ऐसा ही है। नेता या कार्यकर्त्ता यदि देहात के कष्टों को सहन करने के लिए तत्पर न हों तो वे हमारे आन्दोलन से हट जायं। सभी दृष्टियों से वह श्रेयस्कर होगा। हमारे नेताओं को, जिनके कंधों पर सारे देश का बोझा है, असली भारत के दर्शन होने चाहिए—देश की दलित, दुखी और पीड़ित आत्मा महलों में रोने नहीं आवेगी। यदि इस निमित्त से गांवों के सच्चे दुखों का उन्हें दर्शन करा सकें तो यह भी वहुत वड़ी सेवा होगी।"

सेगांव से सेवाग्राम

काकाजी और महादेवभाई ने पहले से ही ऐसे गांव की खोज शुरू कर दी थी, जहां वापू और उनका आश्रम-परिवार कमसे-कम असुविधा में रह सके और वापू को भी समाधान मिले।

वर्धा से पांच मील दूर, कई गांवों को देखने के वाद, सभी दृष्टियों से सेगांव को पसंद किया गया। वापू को भी वह पसंद आया। सेगांव की मालगुजारी का आधा हिस्सा काकाजी का था। काकाजी ने मालगुजारी के हिस्से के साथ आश्रम को लगनेवाली आवश्यक ज़मीन-जायदाद वापू को भेंट कर दी। सेगांव में वापू का वसना था कि वहां कुछ ही वर्षों में पक्की सड़क, पोस्ट आफिस, विजली, टेलीफोन आदि की व्यवस्था भी हो गई। मगर सेगांव नामक एक नगर खानदेश में भी है। देश-विदेश के कई यात्री-नेता कभी-कभी भ्रांतिवश वहां पहुंच जाते थे। तार और पत्रों में भी कई वार गड़वड़ हो जाती थी। इस भ्रम को दूर करने के लिए वापू ने सेगांव का नाम वदलकर सेवाग्राम कर दिया जो सार्थक भी था।

सेवाग्राम में बापू की दिन-चर्या

सेवाग्राम आश्रम में वापू की दिन-चर्या क्या थी और वहां का वातावरण कैसा रहता था इसकी जानकारी से भी वापू के व्यक्तित्व पर अच्छा प्रकाश पड़ता है।

वापू के पास एक निकल की जेव-घड़ी हुआ करती थी। उसे वह डोरी से गले में लटका कर व धोती की अंटी में दवाकर रखते। रात को उसे सिरहाने रख लेते थे। उसमें अलार्म भी था। रात को करीव ९ वजे वह सो जाते थे और नियमपूर्वक सुवह ४ वजे घड़ी के अलार्म और आश्रम की घंटी पर उठ जाते थे। सुवह की प्रार्थना ४ वजकर २० मिनट पर नियमित रूप से शुरू होती। इस बीच वापू और आश्रमवासी हाथ-मुंह धोकर निवृत्त हो लेते।

दांत साफ करने के लिए वापू दांतुन का उपयोग करते थे। रात ही को थर्मस में गरम पानी वापू रखवा लिया करते । लकड़ी की वड़ी चम्मच के साथ ८ औंस शहद पानी के साथ अथवा यों ही धीरे-धीरे पी लेते । इतना सव करने में वापू को १५ मिनट लग जाते थे।

प्रार्थना के पूर्व अपने कांसे के गिलास पर चम्मच से ३ ठोंगे मार कर आश्रमवासियों को सूचना देते कि प्रार्थना शुरू होने में अव सिर्फ ५ मिनट ही रह गए हैं। उतने में ही आश्रम के लोग वापू के आस-पास अपना स्थान लेकर बैठ जाते। कंदीलों की ज्योत विलकुल मन्द कर दी जाती। ठीक ४ वजकर २० मिनट का समय देखकर 'प्रार्थना' शब्द से प्रार्थना शुरू होती। सेवाग्राम में वस जाने के वाद शुरू-शुरू में वापू ही सामूहिक प्रार्थना करवाते थे। प्रार्थना का नेतृत्व वह स्वयं करते। अन्य आश्रमवासी उनके साथ हो लेते । भजन वह स्वयं गाते और धुन भी गाते-गवाते । वाद में जैसे-जैसे आश्रमवासियों की संख्या वढ़ी, ताल और सुर जाननेवाले लोग शुद्ध उच्चार से प्रार्थना करवाने लगे। कुछ समय वाद एक जापानी बौद्ध भिक्षु आश्रम में रहने को आये। उनके सहयोग और श्री रेहानावहन तथा मीरावहन की सहायता से वौद्ध, पारसी, इस्लाम और ईसाई आदि धर्मों की चुनी हुई प्रार्थनाएं आश्रम की प्रार्थना में शामिल की गईं।

प्रसंगानुसार वाइविल के अंश या अंग्रेजी भजन भी कभी-कभी सम्मिलित करं लेते थे। प्रार्थना करीव ५-५। वजे तक समाप्त हो जाती। उसके वाद वापू शौच से निपट कर थकान पूरी न उतरी होती तो करीव आधा घंटा लेट जाते। अन्यथा विस्तर में ही बैठकर 'हरिजन' के लिए लेख लिखते या डाक का काम करते। करीव ६।। वजे वह नाश्ता करते, जिसमें ६ औंस वकरी का दूध, सामयिक फल ४ औंस, अन्यथा पानी से धोई हुई ८-१० खजूर होतीं। ७ वजे के करीव घूमने निकल पड़ते। घूमने के समय सामान्य आश्रम सम्वन्धी या सिद्धान्त-विशेष पर चर्चा होती। आश्रम के अथवा वाहर से आनेवाले लोगों से मुलाकातें वह घूमते-घूमते कर लेते। वापू काफी तेज चलते। उनकी रफ्तार करीव ५ मील प्रति घंटा की होती। दो मील के करीव वह घूमा करते।

स्वास्थ्य-सुधार के लिए मीरावहन और वाद में वहीं बालकोबाजी

आश्रम से मील-सवा मील की दूरी पर रहते थे। वापू नियमित रूप से उनकी झोंपड़ी तक जाते। खड़े-खड़े ही उनके स्वास्थ्य के समाचार लेते, उन्हें क्या खाना है, कैसे रहना है आदि सूचनाएं करके उनका समाधान करते। लौटते समय आसपास की संस्थाओं व आश्रम में जो मरीज होते उनकी देखभाल, इलाज, सेवा की व्यवस्था, खुराक की सूचना आदि देते हुए करीव ८। वजे तक पहुंच जाते। पांवों को धोकर गमछे से पोंछ लेते । करीव ९।। वजे तक का समय अधिकतर साग-भाजी धोने-काटने में लगाते, साथ-साथ वाहर से आये ग्रामीणों अथवा मरीजों से उनकी शिकायतें सुनते और उनका इलाज स्वयं करते और आश्रम के लोगों से करवाते। इलाज वहुत सादे, सरल और अधिकतर नैसर्गिक होते। आश्रम में वह कुछ दवाइयां रखते, जो इस प्रकार थीं— सोडा वायकार्व, अरंडी का तेल, गंधक मलहम, क्वीनाइन आदि। ऐनिमा, मिट्टी की पट्टी, निसर्गोपचार, पथ्य, परहेज, व खुराक का सहारा भी लेते। वढ़ते-वढ़ते अव तो वहां पूरा अस्पताल ही वन गया है।

९।। वजे वह मालिश करवाते। उसके वाद मामूली गरम पानी से कमरे में ही स्नान करते और १०।।-११ वजे तक वह तैयार हो जाते। ११।। वजे आश्रमवासियों के साथ भोजन करते। आश्रमवासियों को अपने हाथों परोसते। आखिर में जव आश्रमवासी वढ़ गए तव समयाभाव और लाचारी की वजह से जो आश्रम में मेहमान आते उनको और मरीजों को अपने नजदीक बैठाकर स्वयं परोसते और उनके खाने का पूरा खयाल रखते। खाने के समय कई मेहमान आश्रम के भोजन के विषय में टीका-टिप्पणी और मीठी मजाक भी कर लेते। वापू का भी सुखद विनोद चलता। वातावरण शांत, शुद्ध और प्रसन्न होता। वापू के भोजन में ६ औंस वकरी का गरम किया दूध, करीव उतनी ही विना नमक-मसाले की उवाली हुई सब्जी, आश्रम में ही सोडा डालकर वनाई हुई गेहूं की डवल रोटी और खाकरे (पापड़ जैसा गुजराती पतली रोटी), वजन में करीव १।।-२ औंस। ११।। से १२।। तक भोजन से निवृत्त होकर अपनी कुटिया में पहुंच जाते। डाक और अखवार उनके लिए तैयार रहते। उन्हें करीव आध-पौन घंटे देखते। इस वाच १०-१५ मिनट कोई-न-कोई आश्रमवासी वापू के तलुओं में घी की मालिश करता। अधिकतर वा हां इस काम को करतीं। उनकी गैरहाजिरी में इस काम के

८५

लिए आश्रमवासियों में होड़ लगती, वल्कि ईर्ष्या भी रहती। करीव आधा घंटे के लिए वापू सो जाते। सोते समय कोई-न-कोई आश्रमवासी धीरे-धीरे पंखा किया करता और मक्खियां उड़ाता रहता।

उठकर मुंह-हाथ धोकर गरम पानी में एक चम्मच शहद पीकर वापू १।। से ४ वजे तक, जव सेवाग्राम से डाक निकलती, पत्रों का जवाव देने का काम करते। वाद में सूत्र-यज्ञ आध घंटे के लिए होता, जिसमें सव आश्रमवासी भी शामिल होते। वापू एकाग्रता से कातते। खुद की कताई का पूरा हिसाव रखते। दूसरों से भी पूछ लेते। सूत टूटा है तो क्यों और कितनी वार, यह जान लेते और गलती को कैसे दूर करना, वह भी वताते। वाद में मुलाकातें होतीं। सर्दियों में ५।। अथवा ६ वजे आश्रम का शाम का भोजन होता। खाना आध घण्टे में पूरा हो जाता। फिर वापू सुवह की तरह घूमने निकल जाते। कोई ज्यादा ही वीमार होता तो उसको देखते। अन्यथा अधिकतर जल्दी ही लौट आते और हाथ-पांव धोकर करीव ७-७।। वजे मौसम के अनुसार प्रार्थना होती। शाम की प्रार्थना में दूसरी संस्थाओं के और वाहर से आये हुए लोग भी शामिल होते। प्रार्थना में वापू का स्थान निश्चित रहता। वहनें वापू के वायीं ओर वैठतीं और सव लोग दाहिने और सामने वैठते। प्रार्थना को चलानेवाले तानपूरा लेकर वापू की सीध में कुछ दूरी पर वैठ जाते।

सुवह की तरह शाम की प्रार्थना का क्रम इस प्रकार था : जापानी वौद्ध मंत्र, दो मिनट की शांति, 'ईशावास्य' मंत्र, 'यं ब्रह्मा' श्लोक, स्थितप्रज्ञ-लक्षण, एकादश व्रत, कुरान शरीफ की आयत, पारसी प्रार्थना, भजन, धुन, रामायण। करीव ४०-४५ मिनट तक प्रार्थना चलती। उसके वाद ९ वजे सोने तक अखवार और पत्रों को वह सुनते या उनका जवाव 'हरिजन' के लिए या अन्य लेख-आदि लिखते। ९ वजे वह विस्तर पर लेट जाते। उस समय उनके तलुवों पर और सिर पर भी घी की मालिश होती। आश्रम-वासियों के साथ थोड़ा विनोद भी चलता। उनके शारीरिक, वौद्धिक और मानसिक कष्ट व क्लेश की वातें एक माता के समान प्यार और ध्यान से वे सुनते, उसका उपाय वताते और समाधान करते। व्यवहार, धर्म, अध्यात्म व नैतिकता विषयक उन्हें कुछ कहना होता तो वह भी कहते। जीवन-सम्वन्धी कुछ नये

विचार, प्रयोग, रचनात्मक कार्यों-सम्वन्धी सूचना या अन्य कोई वात जो सवको कहने की होती, वह भी वहीं पर कहते।

आश्रमवासियों की छोटी-मोटी गलतियों, कमियों या भूलों का जिक्र, उनके पश्चात्ताप या परिमार्जन की विधि के साथ आश्रम-जीवन को सरल, शुद्ध और परिपूर्ण रखने की दृष्टि से व्यक्ति और समूह दोनों को ही उसमें से शक्ति मिले, इसका खयाल रखते हुए यथा-आवश्यक उतनी चर्चा भी, पूरे विवेक के साथ कर लेते थे। आश्रम में प्रार्थना के वाद उस तरह की चर्चा या प्रवचन के मौके अधिक नहीं होते थे। लेकिन जव आश्रम से वाहर जाते तो प्रार्थना के वाद के उनके प्रवचन 'मौनवार'. (सोमवार) को छोड़कर नित्य का नियम ही हो गए थे।

वापू के पास एक माला हमेशा रहती थी। सोने के पूर्व लेटे-लेटे रामनाम के साथ उसको भी फेर लिया करते थे। वापू का जीवन और स्वभाव, कृष्ण की भांति सर्वांगीण था, लेकिन जप और भक्ति वह परंपरागत या आदतन राम की ही किया करते। आश्रम में प्रार्थना का स्थान एक खुला मैदान है। वहीं अधिकतर वापू खुले में सोते। आश्रम में कमरे में, तो शायद ही कभी सोये हों। दरिद्रनारायण की सेवा का व्रत जिस व्यक्ति नें लिया हो वह हमारे इस गरीव देश में प्रार्थना-भवन के लिए भी किस तरह खर्च कर सकता है, इसका भी विचार उनके मन में था। यही वजह थी कि प्रार्थना-स्थल पर उन्होंने कुछ भी खर्च नहीं किया था।

वापू स्वभावतः सदा सतर्क और निश्चिन्त रहे। आश्रम में प्रायः सांप-विच्छू आदि निकला करते थे। सोते समय वापू मन्द की हुई कन्दील, पोटाशियम परमगनेट और एक व्लेड हमेशा पास रखते, ताकि यदि किसी को सांप-विच्छू काट ले तो उसका वह तुरन्त इलाज कर सकें। लेकिन भगवान की दया और उनके पुण्य-प्रताप से किसी की जान का खतरा आश्रम में नहीं हुआ। सांपों को भी आश्रम में मारा नहीं जाता था—उनको चोट न लगे इस तरह से फांसे में या चिमटे में पकड़ कर दूर छुड़वा दिया जाता था।

वापू गये। आश्रम का प्राण गया। फिर भी सेवाग्राम में आश्रम का वाह्य स्वरूप वैसा ही चलता है। वापू चाहते थे कि हर घर आश्रम बने।

८७

●

आश्रमवासी और बापू

मैं मजाक में कई वार कहा करता था कि सेवाग्राम में वही लोग हमेशा के लिए रह सकते हैं जो या तो शरीर से कमजोर, मन के अस्वस्थ, भावना के कच्चे अथवा अध्यात्म में अपूर्ण हों। महादेवभाई और कस्तूरवा को इन सवमें मैं अपवाद समझता था। लेकिन वाद में कई वर्षों से बीमार रहने के कारण वे भी अपवाद रूप नहीं रह सके। उनके चले जाने से आश्रम में एक वहुत वड़ी कमी महसूस होती थी। एक ओर तो वे वापू और आनेवाले दर्शकों के बीच सेतु का काम करते थे और दूसरी ओर आश्रमवासियों और वापू के बीच घनिष्ठता वनाये रहने में सहायक होते थे। उन दोनों के अभाव में आगन्तुकों की देखभाल करने के लिए सिवा वापू के और कोई नहीं था।

जिज्ञासुओं की शंकाओं का समाधान महादेवभाई करते थे, तो उनके आराम और खाने-पीने का प्रवन्ध कस्तूरवा करती थीं। वापू हमेशा से अतिथि-सत्कार करने में पक्के थे। आने-जानेवालों की आदतों और उनकी अभिरुचि को जानकर उनकी छोटी-से-छोटी आवश्यकता का, अभिरुचि का और आराम का वह पूरा खयाल रखते थे। महादेवभाई और कस्तूरवा की मौजूदगी में इस तरह की खातिरदारी वह उन दोनों पर सौंपकर निश्चिंत हो जाते थे। उनके चले जाने के वाद यह सारा काम वापू को स्वयं ही करना पड़ता था। यदि यह काम वह किसी दूसरे को सौंप भी देते तो भी उनका ध्यान उसी में रहता।

आश्रम के जीवन में वा और महादेवभाई का अपना-अपना स्थान और व्यक्तित्व था। इतना ही नहीं, समय पड़ने पर वे वापू को अचूक सलाह भी दे सकते थे और इससे वापू को वहुत वड़ा सहारा और हिम्मत रहती थी। आश्रम तथा वापू के अन्य सारे कामों को करते हुए वापू के निजी आराम, और छोटी-से-छोटी जरूरत का जितनी सुगमता तथा तत्परता से वे खयाल रखते थे, यह एक आश्चर्य की ही वात थी। बा और महादेवभाई ने अपना सर्वस्व वापू में ही खो दिया था और वापूमय होने में ही उन्होंने अपना सच्चा सुख समझा। उनका निज का अलग-अलग और स्वतंत्र व्यक्तित्व था।

यदि वे चाहते तो उनका निजी अस्तित्व भी हो सकता था लेकिन बापू से अलग होकर उन्हें किसी वस्तु का मोह नहीं था—जिंदगी का भी नहीं।

आश्रमवासियों के बारे में, जैसा मैं ऊपर लिख चुका हूं, वह यद्यपि विनोद में ही कहता था, फिर भी उसमें सत्यांश है। आश्रम में सामान्य योग्यतावाले बहुत कम लोग थे। अधिकांश भावना-प्रधान, सिद्धान्तवादी या सनकी किस्म के थे। इस तरह वे अलग-अलग मिजाज के विभिन्न नमूने थे। योगीराज भंसालीजी ही ऐसे थे जिनपर आस-पास के वातावरण का कोई असर नहीं था। उनपर न तो बापू के सिद्धान्तों का न बापू के व्यक्तित्व का ही कोई असर दिखाई देता था। वह एक तरह से बिलकुल अलमस्त होते हुए भी अपने-आपमें ही सर्वथा व्यस्त रहते थे। पूर्णानंद की झलक उनके जीवन में मिलती थी। किसी भी प्रकार का आडम्बर या दिखावा उन्हें छू तक नहीं गया था।

बाहर के लोग जो आश्रम में आते थे, उनके लिए यद्यपि कोई मार्गदर्शक नहीं था, फिर भी वहां के वातावरण में इतनी सरलता तथा स्वाभाविकता था कि वे स्वयं ही शुरू-शुरू में संकोच करते, किंतु बाद में हिम्मत करके आगे बढ़ते थे। यद्यपि बापू, कैसे ही काम में मशगूल क्यों न हों अथवा किसी महत्व की खानगी वार्तालाप में व्यस्त हों, फिर भी आने-जानेवाले बापू के दर्शन कर सकते थे। बहुत से लोग भंसालीजी के पास जाकर जमा हो जाते थे। वह सदा खुले स्थान में सूत कातते और पढ़ाते हुए दिखाई देते थे। कुछ लोग तो उनको ही 'महात्माजी' समझ बैंठते थे। उनकी यह गलतफहमी तब दूर होती, जब वे टहलने के समय या प्रार्थना में बापूजी को देखते। इतनी गड़बड़ी होते हुए भी बापू की व्यस्तता में से वे उनका एक मिनट नहीं लेते थे। घूमने के समय भी उन्हें किसी प्रकार का कष्ट न हो इसका खयाल भी वे अवश्य रखते। वह एक श्रद्धालु लोगों का भक्तिभावपूर्ण जमाव होता था।

आश्रम में बापू तथा भंसालीजी दो महान विभूतियां थीं। भंसालीजी एक सिद्ध हठयोगी थे जिन्हें अपने शरीर की तनिक भी सुध या परवाह नहीं रहती थी। वह वैसे ही ऋषि-मुनियों जैसे थे, जो भारत में वैदिक समय में हुआ करते थे। मैंने उनके पिछले ऐतिहासिक उपवासों में एक दफा उनके

वारे में कहा था कि "उनका दिमाग संत की तरह निर्मल, मन माता की तरह कोमल और स्वभाव वालक की तरह सरल है। आज के भारत में इस तरह के निवृत्त तथा विदेही इन-गिने ही मिलेंगे।"

कुछ लोग आश्रम में ऐसे थे जिनका गांधीजी के व्यक्तित्व की वजाय गांधीवाद में ज्यादा विश्वास था। वहुत से ऐसे लोग भी आश्रम में आते रहते जो वाहर जाकर अलग-अलग क्षेत्रों में अपनी शक्ति के अनुसार कार्य किया करते। वे लोग आश्रम में तभी आते जव उन्हें अपने कार्य के विषय में वहां आकर वापू से निदेश लेना आवश्यक मालूम देता। ऐसे लोग, चाहे वे आश्रम में हों या वाहर रहते हों, उनके होने मात्र से आश्रम तथा वापू के कार्य को शक्ति मिलती थी। वे स्वयं समझ-बूझ कर काम करते थे। उनसे जो सेवा होती वह सच्ची सेवा होती। वे जहां भी रहते आश्रम के ही अंग रूप में।

इसके अलावा आश्रम में अन्य अनेक ऐसे भी थे जो अत्यंत एकांगी, अव्यावहारिक, भावना-प्रधान, सैद्धान्तिक और कुछ अंशों में सनकी थे। उनको वापू के प्रति वहुत मोह रहता था। वे वापू की भक्ति में अपनी सुध-वुध तक खो देते। वे वापू की इस तरह पूजा करते थे जैसे एक पुजारी अपने आराध्य देव की करता है। वे निजी मोहवश इतने अलमस्त हो जाते कि वे कई वार वापू की कड़ी-से-कड़ी परीक्षा कर लेते। वापू को वे संयम, सहन-शक्ति, दया और प्रेम की कसौटी पर कसते थे। इस प्रकार वे वापू के परीक्षक और साथ-ही-साथ छोटे-से रूप में 'गुरु' भी वन जाते थे। वापू को इतना तकलीफ देते हुए भी चूंकि उनके हेतु स्पष्ट और सत्य तथा भाव अच्छे होते थे इसलिए जो कुछ सेवा वे कर पाते वह अधकचरी होने पर भी सच्ची सेवा तो होती ही।

इस प्रकार तरह-तरह के लोगों की वजह से आश्रम मनुष्य-स्वभाव का एक चिड़ियाघर ही हो गया था। वापू सव से अलग-अलग व्यवहार करते और प्रत्येक आश्रमवासी को पूरा समाधान देते। ये लोग स्वयं भी कुछ-कुछ अंशों में महात्मा का छोटा रूप ही होते थे और यही कारण है कि उन्हें आश्रम में रहने का स्वाभाविक हक प्राप्त हो गया था। उन्हें स्वभाव से ही उस जगह तथा वहां के लोगों के प्रति मजबूत आकर्षण तथा अपनत्व था। इस तरह के अनोखे तथा विचित्र लोगों के समुदाय में रहने से वापू को

मनुष्य स्वभाव का खासा अच्छा ज्ञान हो जाता था। उनके लिए यह समझ पाना सहज था कि इस तरह के लोग किसी विशेष परिस्थिति में कैसा व्यवहार करेंगे। आम जनता की नब्ज पहचानने में उन्हें ऐसे विचित्र लोगों से काफी जानकारी मिलती थी।

इस प्रकार से अधपके होते हुए भी कुछ खास विशेषता इस तरह के लोगों में होती थी। किसी खास समय में ये विशेषताएं काफी उपयोगी होती रहीं। अति सरल होते हुए भी इनको अच्छी तरह से समझने में वहुत कठिनाई होती थी। जो लोग आश्रम में कुछ समय के लिए ही आते, वे स्वभावतः अचंभे में पड़ जाते। वहुत से लोग तो यह भी नहीं समझ पाते कि ऐसे विचित्र लोगों को महात्माजी ने आश्रम में क्यों रख छोड़ा है; और जब वे देखते कि इन्हीं लोगों के लिए महात्माजी अपना खासा समय देते हैं तो उनके आश्चर्य का ठिकाना न रहता। कई वार इस तरह के मौके आ जाते जवकि वापू के पास नेहरूजी, मौलाना आजाद तथा अन्य नेतागणों को ज्यादा समय देने की गुंजाइश नहीं रह जाती थी, लेकिन आश्रमवासियों को जितना समय देने की आवश्यकता उन्हें जान पड़ती, उतना समय वह निकाल ही लेते। यदि कोई आश्रमवासी वापू का खयाल करके छोटी-छोटी शिकायत नहीं कहता तो उसको डांट पड़ती। छोटी-से-छोटी वात, घटना या शिकायत वापू के पास जानी ही चाहिए। वापू उसको स्वयं देखते। उसका पूरा समाधान वापू को होना चाहिए। किसी को मक्खन, दूध, तरकारी या किसी अन्य चीज की कमी रह गई, तो वापू को यह जानना जरूरी हो जाता कि ऐसा क्यों हुआ! जिसकी गलती या लापरवाही होती उसे अपने कर्तव्य और सेवा के लिए फिर खासा उपदेश मिल जाता। यदि इसी तरह की भूल दो-चार वार हो गई तो किसी दिन प्रार्थना के वाद काफी गंभीर उपदेश वापू दे डालते, जिससे कई वार वापू के खून का दवाव वहुत वढ़ जाता। फिर भी यह सव होता रहता। ऐसा ही होना भी चाहिए था। वापू और आश्रम दोनों को ही इससे आखिरकार फायदा ही होता। ९१

यद्यपि आश्रमवासी वापू के लिए एक प्रकार से इतने भार रूप हो जाते थे तथापि वापू को सच्चा आराम भी वे हा दे सकते थे और उनका मनोरंजन भी आखिर वे ही करते। वापू तथा आश्रम के जीवन को पूर्ण

वनाने में वे मदद करते थे, उसमें से कुछ लेते नहीं थे। अनेक ऐसे थे जो वापू के ही सुख में सुखी तथा उनके दुख में दुखी रहते। यदि ऐसा कहें कि उनमें से वहुत-से वापू के लिए ही जीवित थे और प्रति क्षण वापू के लिए मरने को भी तत्पर रहते थे तो यह अतिशयोक्ति नहीं होगी। कई वार तो वापू को उनको समझाने में वड़ी कठिनाई होती जवकि किसी कार्य का लक्ष्य कर उनमें से कोई अनशन करने पर उतारू हो जाता। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि आश्रमवासियों तथा वापू में कुछ महत्व की चाजें एक-सी पाई जाती थीं, जिससे कि उनका आपस का संवन्ध एक-दूसरे का पूरक और एक-दूसरे में ओतप्रोत होता था।

किसी भी तरह के वुरे आदमी को आश्रम में कोई स्थान नहीं था। जिसकी भावना कलुषित और हेतु बुरा होता वह आश्रम में वैसा महसूस करता जिस तरह मरुस्थल में मछली । एक सामान्य अच्छा व्यक्ति भी आश्रम के चौखटे में अच्छी तरह नहीं वैठेगा। हां, इस तरह का आदमी वहां तभी रह सकता था जवकि या तो उसका व्यक्तित्व वढ़ा-चढ़ा हो जिससे कि अन्य आश्रमवासियों का उसपर कोई असर न हो सके, अथवा उसे अधिकतर वापू से ही काम पड़ता हो। इस तरह के व्यक्ति को भी वहुत लंवे अर्से तक वहां रहना नामुमकिन-सा हो जाता। आश्रम में सव तरह की परीक्षा होते हुए भी कभी-कभी मन में ऐसा आ जाता था कि वापू के आश्रम को किसी खास 'वुरे' आदमी से अभी तक पाला नहीं पड़ा। ऐसे किसी आदमी की आश्रम में मैं वहुत दिनों तक कमी महसूस करता रहा!

जव से वापू सार्वजनिक काम करने लगे तव से उनमें काफी परिवर्तन होना स्वाभाविक ही था। ज्यों-ज्यों उनमें परिवर्तन होता गया, वैसे ही समय-समय पर आश्रमवासी भी उनके पास जमा होते रहे।

वापू ने अपने लंबे सार्वजनिक जीवन में फिनिक्स संस्था (Phoenix Settlement), सत्याग्रह आश्रम, सावरमती तथा सेवाग्राम-आश्रम, वर्धा—इस तरह के तीन आश्रम चलाये। मेरा विश्वास था कि जिस तरह के सहयोगी फिनिक्स संस्था में वापू के साथ थे, वैसे लोग उनके साथ सेवाग्राम आश्रम में नहीं थे। इनमें कुछ अपवाद जरूर थे, परन्तु उनमें भी वहुत-से ऐसे थे, जिन्होंने वापू के साथ अपने जीवन में भी उतना अंतर कर लिया या

उस तरह के फर्क के लिए उनके मन की तैयारी रही। इन अलग-अलग आश्रमों में जो परिवर्तन होता गया, वह हमको स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। कहां तक इस तरह का परिवर्तन बापू ने भूतकाल के अनुभव द्वारा भविष्य के लिए सोच-समझकर किया, और कहां तक वह स्वाभाविक तौर पर, समय पाकर अपने-आप होता गया, इसपर बापू स्वयं ही विशेष रूप से प्रकाश डाल सकते थे।

आश्रम में इस तरह के लोग भी थे जिनकी न तो आश्रम के लिए आवश्यकता थी न बापू ही उन्हें खास तौर पर रखना चाहते थे। फिर भी वे वहां थे और रहे। जिनकी बापू को आवश्यकता होती और बापू जिन्हें चाहते कि वे आकर आश्रम में रहें, वैसे लोग वहां आ नहीं सकते थे। इस तरह का असंतोष एक तरह से जीवन के निर्वाह के लिए अनिवार्य भी हो जाता है। आश्रम के लोगों में बापू ने कभी सोच-समझकर कांट-छांट नहीं की। इसी तरह से जैसे-जैसे इनमें परिवर्तन आता गया, वैसे-वैसे आश्रम में नये लोगों को भी जमा करने में कोई खास प्रयत्न उन्होंने नहीं किया। जो कुछ परिवर्तन उन्हें समय-समय पर करना आवश्यक मालूम दिया, वह सब से पहले तो उन्होंने अपने खुद के जीवन में किया, बाद में उनके खास निजी लोगों में वह हुआ जिससे कि आश्रम का रूप बदलता गया और जो लोग इस तरह के परिवर्तन के साथ-साथ नहीं चल सके, वे या तो अपने-आप आश्रम छोड़कर चले गए या इतने पिछड़ गए कि उनकी गिनती अपवादों में होने लगी। नये लोग बापू से आकर्षित हुए और सारा वातावरण ही कुछ समय के बाद बदल गया।

सेवाग्राम-आश्रम एक कुटुंब-जैसा था और बापू उसके कर्ता-धर्ता थे। आश्रमवासियों में काफी कमियां होते हुए भी, और उनके सनकी स्वभाव के कारण सर्वसाधारण व्यक्ति को, इसमें शक नहीं कि उनमें से बहुत-से, आफत मालूम देते थे। फिर भी यदि हम गौर से देखें और ठंढे दिमाग से विचारें तो हमें मालूम हो जायगा कि आखिरकार वे लोग आश्रम और बापू को मदद रूप ही सिद्ध हुए।

बापू के महान व्यक्तित्व के नीचे आश्रम के कई लोग दब-से गए थे। महादेवभाई और कस्तूरबा भी अपने जीवनकाल में इसी तरह बहुत कुछ अंश

में दबे हुए थे। काफी समय के वाद, वापू की गैरहाजरी में योगीराज भंसालीजी को देश कुछ समझ पाया। जो कुछ थोड़ा देश ने उनके वारे में जाना वह उनकी असली स्थिति का एक मामूली-सा ही पहलू है। जादूगर की टोकरी में कितनी आश्चर्यजनक चीजें पड़ी हैं इसका अंदाजा कौन लगा सकता था!

●

बापू और वैष्णवजन

गांधीजी के जीवन पर भगवद्भक्त नरसी मेहता के वैष्णवजन' भजन का गहरा प्रभाव था। किसी भी गंभीर स्थिति में या मार्मिक अवसर पर जब वापूजी को गहरा चिंतन-मनन करना होता या व्यापक विचारों से मुक्त होना होता तो वह 'वैष्णवजन' भजन में तल्लीन हो जाया करते थे! इसी तरह कभी जेल जाने के मौके पर या किसी स्वजन-आश्रमवासी का वियोग हो जाता या विदेश जाना होता अथवा विवाह आदि का कोई धार्मिक प्रसंग उपस्थित होता तव, या आनन्द-उल्लास का और कोई अवसर आ जाता, उस समय भी वापू विशषेतया नरसी मेहता के इसी भजन को गाते और गवाया करते थे।

'वैष्णवजन' यह शब्द 'विष्णु के जन' से वना है। इसमें कवि ने वैष्णवजन कैसा हो, वह इस प्रकार वताया है—

१. परदुखकातरता, २: निरभिमानता, ३. विनम्रता, ४. किसी की निन्दा न करना, ५. मन, वचन और कर्म की दृढ़ता, ६: सम-दृष्टि, ७. तृष्णा का त्याग, ८. एक पत्नी-व्रत, ९. सत्यनिष्ठा, १०. अस्तेय ११. मोह-माया से मुक्ति, १२. वीतरागता, १३. रामनाम की महिमा, १४. पवित्रता, १५ निष्कपटता तथा १६. काम, क्रोध और लोभ का निवारण।

ये सारे लक्षण वैष्णव-जन पर जितने लागू होते हैं, उतने ही किसी सच्चे इंसान, देश के नागरिक या यों कहिये, मानव-प्रेमी पर भी लागू होते हैं।

अर्जुन जैसे भक्त व ज्ञानी के लिए भगवान कृष्ण ने गीता के दूसरे

अध्याय में स्थितप्रज्ञ के लक्षणों का वर्णन किया है। उन्हीं को नरसी मेहता ने सामान्य जनों के लिए 'वैष्णवजन' भजन में सरलता से समझाया है। ये मूलतः स्थितप्रज्ञ के लक्षणों के अनुरूप ही हैं। दोनों के शब्दों में अन्तर है, भावार्थ में नहीं। तत्वतः दोनों का रूप एक ही है।

'रघुपति राघव राजा राम' की धुन में साक्षात भगवान को ही पतितपावन कहा गया है। गांधीजी के शब्दों में दरिद्र ही नारायण है। उसकी सेवा करना, उसीका चिंतन करना, दरिद्रनारायण की ही सेवा-पूजा करना है। ऐसा ऐक्यभाव होने पर भक्त और भगवान में अन्तर नहीं रह जाता। इसका सुन्दर उदाहरण है राम और हनुमान का। हनुमान ने राम से भिन्न अपना अस्तित्व रखा ही नहीं, बल्कि वह अपने-आप शून्यवत हो गए। वह राम में लीन ही नहीं, संपूर्णतः समर्पित हो गए। इस तरह राममय हुए, स्वयं राम ही हो गए। अतः रामायण-काल के पात्रों में राम के अलावा हनुमान को ही वरदान देने की शक्ति है, अन्य किसी को नहीं। राम की मूर्ति की प्राण-प्रतिष्ठा करनी पड़ती है, लेकिन हनुमान की मूर्ति तो जहां भी पत्थर को जरा सिंदूर लगाया कि वह तैयार हो जाती है।

'रघुपति राघव राजा राम' की धुन का द्वितीय चरण है—'पतित पावन सीताराम'। इसमें हरिजनोद्धार और वैष्णव-जन की महिमा दोनों का गुणगान आ जाता है। इसी से बापू को यह धुन इतनी अधिक प्रिय हुई होगी। अब तो यह गांधी-स्मृति का पवित्र प्रतीक बन गई है।

संत तुकाराम ने गाया है :

जे का रंजले गांजले, त्यांसी म्हणे जो आपुले।
तोचि साधु ओळखावा, देव तेथेंचि जाणावा॥

इस भावपूर्ण और सुंदर शब्दावली में कवि ने कहा है कि जो साधु है वही वैष्णवजन—हरिजन है।

ये सारे लक्षण बापू ने अपने जीवन में आत्मसात किये थे। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रारंभ में उन्होंने इन लक्षणों का निरंतर ध्यान ही नहीं, बल्कि जप भी किया था। बापू का जप करने का और प्रार्थना करने का तरीका मौन था। इसी तरह उन्होंने जीवन-साधना की और भक्ति भी अर्जित की।

बापू के जीवन में ऐसे कई प्रसंग आये होंगे, जबकि निर्णय लेते समय

९५

वैष्णवजन के इन उदाहरणों द्वारा उन्हें सीधा-सच्चा मार्ग-दर्शन मिला होगा और निर्णय लेने में सुविधा हुई होगी। इस प्रकार के दृष्टांतों से बुद्धि में स्पष्टता, निर्णय में दृढ़ता, लक्ष्य में निष्ठा और जीवन में सरलता स्वाभाविक रूप से आ जाती है।

देश के राष्ट्रीय एवं सामाजिक जीवन में, विशेष कर वापू के आश्रम-जीवन में ऐसी अनेक घटनाएं हैं, जबकि राष्ट्रीय नेताओं से, समाज-सेवियों से और आश्रमवासियों से उनके वैयक्तिक और सामूहिक जावन में भूलें हुईं। उनको ढाढ़स देते हुए और जीवन में दुवारा वैसी भूल न हो, इस ओर ध्यान आर्कषित करते हुए वापू वैष्णवजन के लक्षणों का केवल उदाहरण ही नहीं देते थे, वल्कि सामनेवाले व्यक्ति के जीवन पर उनका प्रभाव पड़ सके, इसके लिए उनका सूक्ष्म विवेचन भी करते थे और तदनुकूल वातावरण वनाने के लिए इस भजन को अच्छी तरह गवाते भी थे। मुझे स्मरण है कि विवाहों के अवसर पर खासतौर से वापूजी इस भजन का पाठ करते और नवदम्पति को वैष्णवजन के लक्षणों के संवंध में समय के अनुरूप उपदेश भी देते थे।

एक वार किसी वड़े नेता के द्वारा कुछ भूल हो गई। यह सवाल वापू के सामने आया। वापू और उनके बीच क्या चर्चा हुई, यह तो वे ही जानें, परन्तु उस दिन प्रार्थना में वापू ने 'वैष्णवजन तो तेने कहिये' यह भजन गवाया। उसके वाद, मेरा खयाल है कि वापू को उन्हें कुछ खास समझाना पड़ा हो, ऐसा आभास नहीं हुआ। वापू के सान्निध्य में यह भजन सुनने से ही उनका हृदय भर आया और हल्का भी हुआ। प्रार्थना में शामिल हुए हम लोगों को भी प्रत्यक्षतः इसका अनुभव हुआ।

वापू को अपनी माता से परम्परागत राम-नाम लेनें के संस्कार मिले थे। वह सहज स्वभाव से ही रामनाम लेते थे। फिर भी उनका स्वाभाविक जीवन राम की अपेक्षा कृष्ण के अनुरूप अधिक था। राम ने सव प्रकार के स्वकर्म किये, लेकिन प्रवचन नहीं दिये। राम की कृति बोलती है, राम नहीं वोलते। वह न किसी को समझाते हैं, न उपदेश देते हैं। वह आदर्श पुरुष हुए, इसीलिए उन्हें मर्यादा पुरुषोत्तम कहा गया।

कृष्ण नें भी कर्म किये। पर वह उनका स्वभाव-धर्म था। कृष्ण नाम

ही 'कृ' धातु से वना है। 'कृ' से कृषि वनी और कृषि से कृष्ण और कृष्ण से किसान वना। उन्होंने सव कुछ किया, सव तरह का सेवाधर्म निभाया, सव शास्त्रों में पारंगत हुए, जीवन की सव कलाओं से वह पूरी तरह अवगत थे, वह सर्वज्ञ थे, अर्थात सारी विद्याओं में निष्णात थे, ज्ञानी थे। आवश्यकता पड़ने पर कृष्ण ने सव तरह के काम किये। गाय चराईं, सारथी वने, जूठी पत्तलें उठाईं, युद्ध में लड़े और यदि कोई दूसरा लड़नेवाला आ गया तो हथियार डाल भी दिये। वह मोल-तोल, पंचायत और जरूरत पड़ने पर संधि भी कराते थे। जहां कहीं मतभेद खड़े हो जाते, वहां दोनों पक्षों का स्वधर्म क्या है, यह भी समझाते थे। वह तत्त्वज्ञानी थे और उपदेशक भी। वापू का जीवन भी वैसा ही था, वल्कि मृत्यु भी कृष्ण के अनुरूप ही रही। कृष्ण वाण से मारे गए तो वापू पिस्तौल की गोली से। फिर भी वापू ने राम और कृष्ण में अन्तर नहीं किया। अंतर है भी कहां!

राम और कृष्ण दोनों ही विष्णु के अवतार हैं। उनमें से किसी के अनुरूप होना ही विष्णु-जन या वैष्णव-जन होना है। वही रूप वापू का था। धार्मिक प्रवृत्ति होते हुए भी राजनीति में वह प्रवृत्त हुए और धर्माधारित राजनीति को ही उन्होंने अपनाया। इसीसे उनके स्वराज्य-प्राप्ति आन्दोलनों ने भी सत्याग्रह का स्वरूप धारण किया तथा सत्य के प्रयोग और सत्य की उपासना करते हुए वापू के जीवन में प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों एकाकार हो गए और वह सही मानों में वैष्णव-जन सिद्ध हुए।

विष्णु जगत का पालनकर्त्ता है। फिर भी वह न कुछ करता है, न बोलता है। गीता के शब्दों में वह अकर्त्ता होते हुए भी सव-कुछ करता है। अकर्मा होते हुए भी सव कर्म करता है। अतः वह विकर्मा भी है। इसी तरह कर्मरत कृष्ण का अन्तिम जीवन भी शेषशायी विष्णु के अनुरूप ही होता गया। वापू भी कर्मयोगी थे और जीवन में 'गीता' उनकी प्रेरणा-स्रोत रही। फिर भी उसका जो अनुवाद वापू ने किया उसका नाम उन्होंने अनासक्ति-योग' रखा। ऐसी कर्मनिर्लिप्तता वापू की भी थी। वापू के ऐसे वैष्णव-स्वरूप का चिन्तन करते हुए मुझे काकाजी के जीवन का एक मार्मिक प्रसंग याद आ रहा है।

काकाजी की ऐसी आदत थी कि वह अपने गुण-दोषों का लेखा-जोखा

एक कुशल व्यापारी की तरह किया करते थे। अपने दोषों और कमियों का पूरा हिसाव वह रखते और यह विचार भी जागरूकता से करते रहते कि उनके दोषों की मात्रा कुछ कम हुई या नहीं? प्रति वर्ष अपने जन्मदिन पर इसका पूरा हिसाव वह लगाते थे। इसमें वापू, विनोवा, मां, कुछ विशिष्ट मित्र, साथी-सहयोगी, हम वच्चे और निजी सेवक-सेविकाएं तक शामिल रहते। वह उनसे चर्चा करके यह मालूम करते थे कि उनके दोषों में सुधार हुआ या नहीं। यदि कुछ हुआ तो किस तरह का, कितना और कैसे?

इसी तरह आत्म-परीक्षण करते हुए काकाजी को एक वार ऐसा लगा कि उनमें दोष की मात्रा कुछ वढ़ी है। इससे वह वहुत ही वेचैन और व्यथित हो गए। जव उनका जन्म-दिन आया तो उनसे मिलने और वधाई देने के लिए वर्धा की विभिन्न संस्थाओं के छोटे-वड़े स्त्री-पुरुष सभी एकत्र हुए। महिलाश्रम की वालिकाओं ने 'जमनालालजी होवें चिरायु' गीत वहुत ही मधुर भावनापूर्ण स्वरों में गाया। वातावरण श्रद्धामय वन गया। उससे काकाजी का हृदय अधिक भारी हो गया।

उपस्थित स्वजनों के सामने उन्होंने आत्म-निरीक्षण के साररूप अपनी आंतरिक व्यथा को स्पष्ट करते हुए कहा, "यदि पूज्य वापू और विनोवा जैसे संत-साधु महापुरुषों का आशीर्वाद और सहवास प्राप्त होते हुए एवं इष्टमित्रों, स्वजनों और सज्जनों के साथ रहते हुए भी अपने दोषों पर मैं कावू नहीं कर पाता और मेरी जीवन-साधना का विकास ठीक नहीं हो सकता, तो यह समाज-सेवा और देश-सेवा में लगे रहना व्यर्थ है, क्योंकि जव स्वयं अपना जीवन ही उन्नत नहीं हो सकता तो समाज व देश की सेवा भी अच्छे ढंग से नहीं हो सकती। वह केवल वाह्य आडंवर-रूप और भ्रममात्र होगी। ऐसी अवस्था में जीने से भी क्या लाभ? और आत्म-हत्या करना तो कायरता है, पाप है।"

अपना यह धर्म-संकट रूप आंतरिक मंथन उन्होंने गहरी वेदना के साथ स्वजनों के समक्ष रखा। खुशी और उल्लास का वह मंगल प्रसंग करुणामय वन गया। लोग व्याकुल होकर द्रवित हो उठे। कुछ तो रो पड़े। श्रद्धेय जाजूजी को वहुत बुरा लगा। इतना ही नहीं, उन्हें यह सव वड़ा नागवार गुजरा। उन्होंने मुझसे तो कहा ही, काकाजी को भी उलाहना दिया

कि उन्हें यह सबके सामने कहने की क्या जरूरत थी। काकाजी ने सरलता से इतना ही कहा, "मेरा तो दिल कुछ हल्का ही हुआ है।"

अपनी इस व्यथा को बापू तथा कुछ अन्य लोगों के सामने भी काकाजी ने रखा था। इस सिलसिले में बापू ने और जो कुछ भी चर्चा की हो, एक बात काकाजी से उन्होंने खासतौर पर कही कि "जमनालाल! तुम तो वैष्णव हो। अपने दोषों का ही चिन्तन न करो, अपने गुणों का भी चिन्तन वांछनीय है। तुम्हारे अंदर अनेक गुण हैं। उनका भी ध्यान रहे। दोषों से सजग रहो, इतना ही काफी है। निराशा को छोड़ो। तुम्हें जीवन में बहुत-कुछ करना है।" इत्यादि।

इन्हीं चर्चाओं के परिणाम-स्वरूप अन्य सब कार्यों से निवृत्त होकर काकाजी अंत में गो-सेवा के पवित्र काम में तन्मय हुए और उसीमें उन्होंने अपना जीवन समर्पण कर दिया।

●

हरिजन : दरिद्रनारायण

जब मानव का हृदय द्रवित होकर इन लक्षणों से ओतप्रोत होता है तो उसका ध्यान समाज के उन लोगों की ओर अपने-आप दौड़ने लगता है, जो बहुत ही गरीब, दीन-दुखी और दरिद्र होते हैं, जो समाज के स्तर पर सबसे नीचे की श्रेणी में पड़े हैं, जिनका कोई सहारा नहीं, जिनको कोई आशा नहीं, जो रस्किन के शब्दों में 'अन्टु दिस लास्ट' यानी समाज के एकदम अंत में निम्नतम स्तर पर पड़े हैं। ऐसे व्यक्तियों की ओर देखकर वैष्णवजन का द्रवित होना उतना ही सहज-स्वाभाविक है, जितना निचाइ की ओर पानी का प्रवाहित होना। यही उसका स्वभाव हो जाता है, स्वधर्म भी।

इन्हीं भावनाओं में से बापू के मन में दीन-दुखियों की सेवा उपजी और उसीमें से दरिद्रनारायण की उपमा सूझी या उसी दरिद्र-दुखी समाज की सेवा को उन्होंने नारायण की पूजा समझा। इसीलिए दरिद्र को उन्होंने दरिद्रनारायण के रूप में ग्रहण किया।

भारतीय और विशेषकर हिन्दू समाज में वर्ण-व्यवस्था के कारण शूद्रवर्ग भी है। वह आर्थिक दृष्टि से तो पीड़ित है ही, उसमें भी जो सामाजिक दृष्टि से घृणित, जो स्पृश्य होने के योग्य नहीं—ऐसा सेवक-वर्ग अस्पृश्य—अछूत समझा गया। सामाजिक अन्याय के कारण इससे मानवता का जो पतन हुआ हिन्दू धर्म तथा हिंदू समाज के लिए वह कलंक वन गया। उसके निवारणार्थ और उस अपमानित मानव की सामाजिक प्रतिष्ठा एवं वैयक्तिक स्वाभिमान को जागृत करने के लिए वापू ने उसको 'हरिजन' नाम दिया। दूसरे शब्दों में वही वैष्णव-जन हुआ। वापू के 'हरिजन' और नरसी मेहता के 'वैष्णवजन', में कोई अन्तर नहीं।

चूंकि समाज में हरिजनों को जो स्थान वापू दिलवाना चाहते थे, वह हम नहीं दे पाए, इसीलिए 'हरिजन' शब्द उतना गौरवान्वित नहीं हो सका, लेकिन वापू के मन में, उनकी कल्पना में, उनके इरादे में, उस सम्बन्ध में किसी प्रकार का कोई संशय नहीं था।

सामाजिक विषमता और अन्याय को दूर करने के लिए वापू ने अपनी सेवा का लक्ष्य हरिजन-सेवा द्वारा निर्धारित किया। उन्हें आर्थिक विषमता के कारण अन्याय और अभाव की जो कमी दिखाई दी, उसकी पूर्ति के लिए रचनात्मक कार्यों द्वारा चर्खे को केन्द्रित करके खादी को सम्पूर्णता का रूप दिया और क्रियात्मक एवं रचनात्मक आन्दोलनों द्वारा अंतिम का उदय करने अर्थात अन्त्योदय करने में वह जुट गए। भारत के दूर-दूर के ऐसे क्षेत्रों में वापू पहुंचे, जहां इन्सान के पास न रहने को झोंपड़ी थी, न पहनने को कपड़े, न खाने को अन्न। ऐसे निःसहाय मानव को उन्होंने उभारा, स्वावलंबी वनाया, पर उसको परिपुष्ट कर सकें, उसके पहले ही भगवान न वापू को उठा लिया।

वह हमारी नजरों से ओझल हो गए हैं, पर उनका प्रभाव आज भी सारी दुनिया में फैला हुआ है। मानव असमंजस में, कष्ट में और क्लेश में है, यह वापू निहार रहे हैं। कोई वैष्णवजन जागेगा, मानवता उभरेगी और तभी मानव का कल्याण और विश्वशांति होगी।

●

बापू एक कुशल चिकित्सक

सन १९३८ की वात है। एक सज्जन शाम को सेवाग्राम आश्रम के फाटक के पास आकर खड़े हुए। वापू को संदेशा भेजा गया कि एक बूढ़ा जीवन स ऊबकर मरने को तत्पर हुआ है, सिर्फ आपकी सम्मति प्राप्त करने की खातिर फाटक पर खड़ा है। अभी ही चला भी जाना चाहता है। वापू वहां गये । उन्होंने देखा कि पुराने परिचित, संस्कृत के प्रकांड पंडित परचुरे शास्त्री हैं। वह महारोग से पीड़ित है, हाथ-पांव में जख्म हो गए हैं, मक्खियां भिनभिना रही हैं, मवाद-खून वह रहा है, वहुत अस्वस्थ हैं। वापू ने उनको आश्वासन दिया। आग्रह-पूर्वक सेवाग्राम में उनको रखा, जिससे उनका उपचार, उनकी देखभाल और सेवा वह स्वयं कर सकें। आश्रमवासियों से सलाह की और उनके लिए अपनी कुटी के पास ही एक कुटिया वनवा दी।

उनका खाना-पीना, डाक्टरी इलाज, सेवा-सुश्रूषा वापू स्वयं और अपनी निगरानी में करते थे। रोज नियमित रूप से स्वयं उनकी मालिश किया करते थे। रोग इतना वढ़ चुका था कि देख कर घृणा-सी होती थी और दया भी आती थी। बीमारी संक्रामक होने से उसकी छूत लग जाने का भी पूरा भय और आशंका थी ही, किन्तु वापू को इन वातों की कभी फिक्र नहीं हुई। रोगी किस तरह से ठीक हो, उसे कैसे आराम मिले, इसके लिए जो कुछ कष्ट या सेवा करनी पड़े उसे कर्तव्य और धर्म के नाते अपने जीवन का एक अंग और दिनचर्या का एक कार्यक्रम ही समझ कर वह किया करते थे। परचुरेजी की मालिश करते हुए वापू का चित्र भारतवर्ष में ही नहीं वल्कि विदेशों में भी प्रख्यात हो गया। जितने समय परचुरेजी आश्रम में रहे, ऐसा कोई प्रसंग नहीं याद आता जव किसी भी दिन उनकी मालिश वापू ने न की हो सिवा जवकि वह स्वयं बीमार हो गए हों या सेवाग्राम में न रहे हों।

हरेक चीज को वापू शास्त्रीय दृष्टि से देखते थे। एक आश्रमवासी के पेट में एकाएक पीड़ा शुरू हो गई। वापू ने उसे सुला दिया। भीगी मिट्टी का पट्टा उसके पेट पर रखवाया। हवा करवाई। धीरे-धीरे वह सो गया। उसका मल धोकर और कपड़छान कर देखा गया तो उसमें गन्ने के रेशे

निकले। उस बीमार को हमेशा के लिए शिक्षा हासिल हो गई कि गन्ना ऐसे खाया जाय जिससे रेशे पेट में न जाने पावें। यह था बापू का इलाज करने का तरीका।

सरहदी गांधी खान अब्दुलगफ्फार खां साहब भी सेवाग्राम में काफी दिन रहे। उस समय सेवाग्राम की आबहवा में मलेरिया था ही। शायद ही कोई व्यक्ति उस बिमारी से बचा हो—खुद बापू भी इसके शिकार हुए थे। खान साहब को भी मलेरिया हो गया। बापू ने उनका इलाज किया। दोनों गांधी का आपस का प्रेम और बर्ताव हृदय को हिला देनवाला था। देवों को दुर्लभ, ऐसा वह प्रेम और भक्ति का प्रसंग था।

सबसे लम्बे समय तक और आत्मसूक्ष्मता से इलाज करने व करवानेवाले की जोड़ी ढूंढ़ी जाय तो वह बापू और संत विनोबा के छोटे भाई बालकोबा की थी। बालकोबा को क्षयरोग हो गया था। ५-६ साल तक बापू ने उनका इलाज किया होगा। यहां तक कि बालकोबा यह महसूस करने लगे थे कि शरीर अब उपयोगी नहीं रहा, तो कहां तक इसकी सेवा करें या इसके लिए दूसरों से सेवा लें। इस भाव से उन्होंने बापू से कहा कि अब मुझे देह-विसर्जन के लिए हिमालय जाने दीजिए, क्षमा करें, अति हो गई। बापू ने उन्हें समझाया। धीरज दिया। इलाज चालू रहा। कुल बारह साल बापू ने सेवा की होगी। आज वह ऐसे स्वस्थ हैं, जैसे कि उनको यह बीमारी कभी हुई ही नहीं। कई बड़े-बड़े डाक्टर भी उनका इलाज करने में असमर्थ रहे। इस जोड़ी में खूबी यह थी कि मरीज व वैद्य दोनों ही सूक्ष्म विचारक व अपने-अपने क्षेत्र में बड़े सावधान थे। बापू रोज दो बार, सुबह और शाम घूमने के समय उनके निवास-स्थान पर जाते थे। क्या खाया, कितना खाया, कब खाया, कितना सोये, कितना घूमे, कितना परिश्रम हुआ, कितना तापमान रहा, ये सारी बातें बापू पूछते। रोगी भी मिनिट, सेकण्ड, तौला-माशा, फर्लांग-फुट तक का सही-सही हिसाब देते। रोज यह संवाद सुनने को मिलता; मानो एक वैज्ञानिक दूसरे बड़े वैज्ञानिक को अपने शोध का माप-तोल और सूक्ष्म निरीक्षण दे रहा हो! अगले दिन के लिए फिर सूचनाएं दी जातीं, दोनों ही पूर्ण एकाग्र होकर सुनते-सुनाते। यह थी बापू की रीति-भक्ति और सेवा। आज बालकोबा स्वयं एक कुशल प्राकृतिक चिकित्सक

हैं और उरुलीकांचन में एक प्राकृतिक चिकित्सा-केन्द्र का कुशलतापूर्वक संचालन कर रहे हैं।

बौद्ध धर्म के प्रकांड पंडित धर्मानन्दजी कोसांबी का शरीर जीर्ण और जर्जर हो गया था। उपवासों द्वारा शरीर छोड़ देने की शुरुआत उन्होंने कर दी थी। वापू को खवर लगी तो उन्होंने धर्मानन्दजी को समझाने के लिए मुझे वम्वई भेजा। उनके चित्त में पूरा समाधान और शांति थी। उनका कहना था कि इस शरीर का पूरा उपयोग हो चुका है। पानी भी मुझे नहीं पच रहा है, अव चले जाने में ही कल्याण है। जीवन से ऊवने का नहीं निवृति का ही भाव था। फिर भी वापू के आदेश को उन्होंने मान्य किया। सेवाग्राम-आश्रम में गये। वापू खुद दिल्ली में कौमी दंगों को शांत करने में लगे हुए थे। फिर भी उनकी सूचनानुसार धर्मानन्दजी का इलाज शुरू हुआ। वह नहीं जी पाये। आश्रम में ही उनको शांति मिली। ऐसा था अन्यान्य प्रेम और विश्वास, और यह थी भक्त और भगवान की जोड़ी।

वर्धा में कांग्रेस कार्यकारिणी की वैठकें हुआ करती थीं। लार्ड लोथियन और स्टेफर्ड क्रिप्स जैसे विदेशी और सव क्षेत्रों के गण्य-मान्य व्यक्तियों का वहां आना-जाना वना रहता था। वापू ने स्टेफर्ड क्रिप्स की सेवा करने का भी प्रयत्न किया था। देश और विदेश के जटिल-से-जटिल प्रश्नों पर चर्चा, गोष्ठी और सम्मेलन होते। वापू कठिन-से-कठिन समस्याओं, प्रश्नों और परिस्थितियों को सुलझाने में लगे रहते। कई वार ऐसे भी प्रसंग आये जव कि समयाभाव के कारण वह कांग्रेस-कार्य को जितना समय देना चाहिए, नहीं दे पाए हों; राजेन्द्रवावू, मौलाना साहव, जवाहरलालजी आदि वरिष्ठ नेताओं के लिए भी मुलाकात का समय न निकाल पाये हों, लेकिन इतने पर भी इन रोगियों की सेवा-सुश्रूषा या आश्रम की दिनचर्य्या में अपनी ओर से कभी, नागा तो दूर, लेशमात्र भी अंतर नहीं हो पाता था।

आश्रम की व्यवस्था, उसकी निगरानी, आश्रमवासियों के दुखों और समस्याओं का निवारण करने के लिए पूरा समय वह देते थे। दुखी के दर्द को दूर करने के अवसर से वंचित होना कर्तव्य और धर्म को टालना है, ऐसा वह मानते थे। कई वार वड़े-वड़े लोगों ने उनसे प्रार्थना की कि अमुक प्रश्न इतना महत्वपूर्ण है कि उसमें आपके आये विना कोई चारा नहीं है।

जो-कुछ सेवा रोगियों की आप स्वयं करते हैं, वह दूसरे आश्रमवासी या हममें से भी कोई कर लेगा। अधिक महत्वपूर्ण प्रश्न के लिए अथवा जहां पर मानवता की भलाई का सवाल है, आपको उपलब्ध हो जाना चाहिए। ऐसे मौके पर वापू का सहज, सरल जवाव होता था, "उससे मानवता की सेवा होगी भी या नहीं, और होगी तो कव, यह कौन जानता है? लेकिन ये रोगी, दुखी तो मेरी नजरों के सामने हैं। उनकी जवावदारी मुझपर ही है। उनके दुख को दूर करन के अवसर को छोड़कर मैं कैसे जाऊं?" जिस तरह मां अपने बीमार वच्चे को छोड़कर नहीं जा सकती, वापू भी अपने रोगियों को छोड़कर नहीं जाते थे। उनका कहना था कि सेवा छोटी और वड़ी नहीं होती, न कोई काम ही छोटा-वड़ा होता है। जो सेवा-कार्य जिसके पल्ले पड़ गया उसको करना ही पुनीत है, और वही स्वधर्म है। उससे अधिक कुछ करने की अपेक्षा या लालसा करना लोभ और मोह है।

वापू का भोजन और प्रार्थना अपने निर्धारित समय पर ही होते थे। चाहे वह यात्रा में हों, कांग्रेस के अधिवेशन में हों या अन्य किसी महत्वपूर्ण कार्य में व्यस्त हों, अपने सारे काम वापू निश्चित समय पर ही करते थे। सूर्य समय पर ही उदय और अस्त होता है, वापू की दिनचर्या भी उसी प्रकार नियमितता से चलती थी।

दुनिया के अच्छे-से-अच्छे डाक्टरों से इलाज करवाने के वावजूद श्री घनश्यामदासजी विड़ला के स्वास्थ्य में सुधार नहीं हुआ। उनके रोग का कारण पूरी तरह किसी की समझ में नहीं आया। वापू ने उन्हें सेवाग्राम में वुलवाया। उनके शरीर का परीक्षण और निरीक्षण वड़ी वारीकी से किया। उनके खाने-पीने की पूरी नाप-तौल और जांच की। विड़लाजी आहार में संयमी थे। फिर भी वह क्या खाते हैं, कौन-सी चीज़ उन्हें पचती हैं, उसकी पूरी विगत में वह उतरे और इस नतीजे पर पहुंचे कि उनके शरीर में वर्षों से प्रोटीन की कमी हो जाने के कारण शारीरिक विकार उत्पन्न हुआ है। खूराक में प्रोटीन और स्निग्धता अधिक मात्रा में वढ़ा देने से उनके स्वास्थ्य को पूरा लाभ हो गया।

अधिकतर जेल में रहने और सी० क्लास की खूराक लने के कारण काकाजी का वजन इतना घट गया था कि उसके कारण कई तरह के रोग

उनको हो गए, और कमजोरी भी विशेष रहने लगी। कान का 'मेस्काडाइट' का ऑपरेशन उन्हें करवाना पड़ा। दूसरे इलाज भी वह करवाते रहते थे। निसर्गोपचार भी उन्होंने काफी किया था। आखिर वापू ने उन्हें भी अपने पास आश्रम में रखा। उनसे उपवास करवाये और खूराक की फेर-वदल, मालिश आदि निसर्गोपचार से उनका इलाज किया। काकाजी के साथ मां को भी उन्होंने वहां रख लिया था। उनके मसों के ऑपरेशन को हुए १०-१२ साल हो चुके थ। दुवारा वड़े-वड़े मसे और नासूर काफी वढ़े हुए थे। डाक्टरों की राय में दूसरा कोई सर्जिकल इलाज रह नहीं गया था। मां वड़े कष्ट में थीं। उनकी हालत दिन-प्रतिदिन खराव होती जा रही थी। इसी तरह हमारे परिवार के अन्य लोगों को भी वहां रखकर समय-समय पर उनका इलाज वापू ने किया, जिससे उन्हें लाभ भी पहुंचा।

जव काकाजी और मां वहां थे तो वम्वई से मैं आता-जाता रहता था। मेरे स्वास्थ्य में भी कुछ गड़वड़ रहती थी जो लापरवाही की वजह से वढ़ भी गई थी। वापू ने मुझसे कहा कि तुम भी यहां आ जाओ, उपवास करो, ठीक हो जाओगे। मैं उनकी पकड़ में नहीं आना चाहता था। कुछ ऐसे कार्यों में भी लगा हुआ था कि जिससे जल्दी मुक्ति नहीं हो सकती थी। मैंने उन्हें जवाव दिया कि "वापू! मैं भी यदि उपवास करने लगूंगा तो फिर आप क्या करोगे? हमारे जैसों के उपवास करने से आपके महात्मापन की कद्र ही घट जायगी।" महादेवभाई और काकाजी भी वहीं थे। सव हँस पड़े और हँसी में वात वहीं समाप्त हो गई।

डांडी-कूच के दौरान में मेरी दोनों आंखें बुरी तरह दुखने आ गई थीं। बीमारी को कुछ ही रोज हुए थे। अहमदावाद के आंखों के नामी डाक्टर कराडी में आये थे। उन्होंने जांच करके वापू को वताया कि एक आंख तो करीव-करीव चली गई है,. दूसरी वचने की कुछ संभावना है। मेरे आग्रह से वापू ने ही मेरा इलाज किया। आचार्य काका सा० कालेलकर के साथ मुझे इलाज और आराम के लिए गुजरात विद्यापीठ, अहमदावाद में भेज दिया। भीगी मिट्टी की पट्टी आंखों और पेट पर रखने से और दूध-फल की खूराक से दोनों आंखें ठीक हो गईं।

कांग्रेस कार्यकारिणी के एक सदस्य अहमदनगर के किले से सरकार

से पत्र-व्यवहार में कुछ ऐसा लिख बैठे कि जिसके कारण उन्हें छोड़ दिया गया। इसका अर्थ खींच-तानकर माफी मांगने-जैसा भी लगाया जा सकता था। इसका उनके मन पर गहरा असर पड़ा। बापू ने उनको अपने पास सेवाग्राम में बुलाकर रखा, उनके मानसिक क्लेश को दूर किया, उनकी गई हुई प्रतिष्ठा को फिर से जमाया।

एक सामान्य कार्यकर्त्ता जेल के कष्टों को न सह सकने के कारण माफी मांग कर छूट गए। लेकिन मारे लज्जा के जीवन का उल्लास और आत्म-विश्वास खो बैठे। साथियों और समाज में भी उनकी प्रतिष्ठा को क्षति पहुंची, मानसिक क्लेश से दुखी थे, आत्मघात के भी विचार मन में आते थे। वह यह भी सोचते थे कि सरकार को दिये हुए आश्वासन को तोड़कर दुवारा जेल में जाकर वहीं क्यों न मर जाऊं, जिससे जीवन की कालिमा से तो एक वार मुक्त हो जाऊंगा!

मैंने उनको समझाने की कोशिश की कि सत्याग्रह आपने सद्भावना व राष्ट्र-प्रेम के कारण किया। अपनी शक्ति का पूरा भान न होने की वजह से माफी मांग लेना कमजोरी को जरूर सिद्ध करता है, लेकिन आश्वासन देने के वाद उसको तोड़ना पाप है। सत्याग्रही ऐसा नहीं कर सकता। आपको संताप हो रहा है यही आपका प्रायश्चित्त है। आपको दुखी नहीं होना चाहिए। लेकिन मेरी वातों से उनको पूरा समाधान नहीं हुआ। मैं उन्हें वापू के छूटने के वाद उनके पास ले गया। जवतक मानसिक दृष्टि से वह पूरे स्वस्थ नहीं हो गए और पूर्ववत् अपने आत्म-विश्वास को उन्होंने प्राप्त नहीं कर लिया, वापू ने उनको आश्रम में अपने पास ही रखा।

आचार्य नरेन्द्रदेवजी हमेशा ही दमे के रोग से पीड़ित रहे। अपनी ही कुटिया में रख कर वापू ने उनकी भी सेवा की। उससे उनको वहुत-कुछ लाभ पहुंचा। हालांकि बीमारी इतनी पुरानी और वढ़ी हुई थी कि वह पूरी तरह से निरोग नहीं हो सके। शायद जितना अधिक समय उनको वहां रहना चाहिए था उतना वह रह भी नहीं सके थे।

सरदार पटेल का भी वापू ने इलाज करने का प्रयत्न किया था। लेकिन वह भी ज़्यादा दिन वहां एक साथ नहीं रह सके। फिर भी उन्हें पूना में निसर्गोपचार में रखा और स्वयं भी निगरानी के लिए पूना जाकर रहे।

एक वार एक सज्जन वापू के उपचार से अधिक बीमार हो गए, इसलिए वर्धा से चला जाना चाहते थे। वापू ने उनसे कहा, "भैंस को अपने सींग भारी होते हैं क्या? तुम यहीं रहोगे। हां! तुम्हें मुझमें और मेरे इलाजों में विश्वास न हो तो खुशी से जा सकते हो।" वह मरीज वहीं रहे। चंगे हो गए।

बीमार की सेवा, व उसका आराम ही वापू का समाधान था। वापू के स्नेह से ही रोग भाग जाते थे और जीवन में उत्साह आ जाता था। महादेवभाई की मृत्यु पर वापू ने कहा था कि अगर एक वार महादेव की आंख और मेरी आंख एक हो जाती तो महादेव का वह दिन उसके जीवन का आखिरी दिन न होता। वापू के उस कमरे में जाने और उनकी आवाज सुनने के पहले ही महादेवभाई-आगाखां महल में चिरनिद्रा में लीन हो चुके थे।

इसी तरह देश के छोटे-मोटे कार्यकर्त्ता, जिनके घर में कलह हो, कष्ट हो, या जिनसे कुछ अनाचार, अत्याचार या दोष हो गया हो, उनको भी वापू अपने पास रखते। कभी-कभी तो साल-साल, दो-दो साल तक भी उन्हें रखा, उनसे उपयुक्त सेवा और अन्य कार्य भी लेते रहे। उनके क्लेश को दूर करके उनकी प्रतिष्ठा कायम करते।

आश्रम तो पागलों का और बीमारों का स्थान ही वन गया था। हँसी-मजाक में लोग उसे पागलखाना भी कहते—वापू उसे प्रशंसा ही समझते थे। आश्रमवासियों में यदि कुछ ऐसी विशेषताएं थीं, जिन्हें अद्वितीय भी कहा जा सकता है, तो ऐसी कमियां भी मौजूद थीं कि जो सर्वसाधारण में नहीं पाई जातीं। यही वजह थी कि अधिकांश आश्रमवासियों का जीवन संतुलित नहीं हो पाता था। उस कमी की पूर्ति आश्रम के वातावरण और वापू की मौजूदगी से हुआ करती थी। ये सव लोग छोटे महात्मा-रूप ही थे और महात्माजी की कड़ी परीक्षा लेते और उन्हें कसौटी पर कसते रहते थे। इनमें ऐसे लोग भी थे, जिन्हें अपने प्राणों की तनिक भी परवाह नहीं थी। योगीराज भंसाली जैसों की शारीरिक यातनाएं और मानसिक कष्ट सहन करने की क्षमता अलौकिक थी। बीबी अमतुस्सलाम-जैसी वहनें अपने प्राणों को कभी भी निछावर कर सकती थीं। समाज और संसार में वे अविवेकी और

पागल ही माने जाते। उनके व्यवहार असंतुलित होते। त्याग, सेवा, वलिदान, भावना, जोश, बुद्धि, लगन, परिश्रम आदि में से कुछ गुण या कम-से-कम एक गुण पराकाष्ठा पर पहुंचा होता। ऐसे मौके भी आश्रम में देखने को आये हैं जव इनकी अथवा इनके कार्यों की वजह से वापू को असीम कष्ट पहुंचा हो। संभव है, वह विचलित हो गए हों और उन्हें गुस्सा भी आया हो, लेकिन यह भी उतना ही सच है कि स्वयं वापू के अनेकानेक प्रयत्नों के साथ-साथ इन छोटे-मोटे महात्माओं की वजह से भी वापू को महात्मा वनने में मदद मिली। उन सवका तेज और पुण्य वापू के काम को मिला। उधर उनकी कमियों की पूर्ति वापू द्वारा हुई। इस आदान-प्रदान में सभी ने कमाया है, देश ने भी, और मानवता ने भी।

वापू की मान्यता थी कि अन्याय, अज्ञान और गरीबी ये सव बीमारी के ही लक्षण हैं। देश की गुलामी ऐसी ही एक बीमारी थी और इस बीमारी को दूर करना भी उनके जीवन का लक्ष्य था। व्यक्ति, समाज और देश की सेवा द्वारा ही इन बीमारियों को दूर करने का कोई ठेका उन्होंने नहीं लिया था, लेकिन वह उनका सहज स्वभाव, स्वधर्म ही वन गया था। किसी रोगी और दुखी के दुख को दूर करके जितना समाधान और सुख उनको मिलता था उतना दूसरे वड़े-से-वड़ा कार्य करने में उनको नहीं हो पाता था। सेवा ही उनका स्वधर्म था। उनसे अच्छा सेवक मैंने तो कोई देखा नहीं। वापू में मां का हृदय और सेवक का स्वधर्म शामिल था। दुखी को देखकर वह द्रवित हो जाते थे। इतने कोमल थे, लेकिन बुराई का प्रतिकार वह दृढ़ता के साथ करते थे। उन्हें बुराई से घृणा थी, लेकिन बुरे से नहीं। बुरे का तिरस्कार उन्होंने कभी नहीं किया। उसको बुराई से जुदा करने का प्रयत्न करते थे, क्योंकि बुराई को वह बीमारी समझते थे। वापू बुराई का विरोध और बीमारी को दूर करनेवाले बुरे और बीमारों से प्रेम और उनकी सेवा करनेवाले वैद्यों के वैद्य और सेवकों के सेवक दोनों ही थे।

ऐसी ही सेवा के वल पर वापू महात्मा वनें। कई महात्मा सेवक हुए हैं, पर यह सेवक महात्मा हुआ।

●

कुछ संस्मरण

सन १९१५ में जब काकाजी बापू के संपर्क में आए उसके बाद से हमारे परिवार या व्यवसाय से संबंधित कोई भी महत्वपूर्ण निर्णय बगैर बापू की सलाह से नहीं लिया गया—चाहे वह नया उद्योग-धंधा शुरू करने का प्रश्न हो या नया मकान बनवाने का अथवा बच्चों की पढ़ाई का, किसी के स्वास्थ्य का या कहीं बाहर जाने का प्रश्न हो।

मेरी पत्नी (सावित्री) आधुनिक पढ़े-लिखे कुलीन परिवार की है। आश्रम के वातावरण में जिस तरह हमारा लालन-पालन हुआ, उससे बिलकुल ही भिन्न वातावरण में वह पली। यह संबंध बापू की सहमति व आशीर्वाद से ही हुआ था। बापू अच्छी तरह जानते थे कि वर्षों बजाजवाड़ी में हम किस तरह रहते रहे थे। कांग्रेस की कार्यसमिति की बैठकों या अन्य अधिवेशनों व मीटिंगों के दौरान जब मेहमानों की भरमार होती तो महीनों तक पिताजी, माताजी व हम पांच भाई-बहनों तथा परिवार के अन्य छः-सात सदस्यों के लिए एक कमरा तक भी नहीं बचता था। विवाह के बाद मैं शहर के अपने पुराने मकान में चला गया। परिवार के अन्य सदस्य बजाजवाड़ी में ही रहते थे लेकिन उसका रूप एक धर्मशाला का ही था। धर्मशाला में आगन्तुक को अपनी देखभाल स्वयं करनी पड़ती है, लेकिन यहां उनका खयाल पूरी तरह से हमें करना होता था। आनेवाले, पूछना तो दूर रहा, सूचना तक नहीं देते थे। कई ऐसे महानुभाव भी आ जाते थे, जिन्हें कोई जानता तक न था। खादी के कपड़े पहन कर सी० आई० डी० के लोग भी हमारे यहां रह गए। जानकारी हो जाने पर वे शर्मिंदा भी होते थे और अनेक बार उनसे मदद भी मिली। पिताजी का स्वर्गवास होने के बाद बापू ने कहा था, "जमनालालजी ने जो भी मकान बनवाया, वह धर्मशाला ही बन गया।"

एक दिन मैं अपनी जिनिंग फैक्टरी का मुआइना करने गया। यह फैक्टरी हमारे निवास-स्थान से करीब एक फर्लांग पर थी। चूंकि आमतौर से मैं वहां पर नहीं जाता था, इसलिए घर पर या बजाजवाड़ी में किसी को पता नहीं था कि मैं वहां गया हूं। मुझे पता लगा कि पता नहीं क्यों,

बापू एकदम बेचैन-से हो गए हैं और एक के बाद एक कई संदेशे उन्होंने मेरे पास भेजे कि मैं उनसे फौरन मिलूं। लेकिन एक भी संदेशा मुझ तक नहीं पहुंचा, क्योंकि मैं तो फैक्टरी में था। जब मैं फैक्टरी से बाहर निकलने लगा तो १०-१५ मिनट में ही कई संदेशे आ गए। इतने ही में साइकिल पर सवार कनुभाई मिले। वह सेवाग्राम से आ रहे थे। मुझे देखते ही उन्हें बहुत आश्चर्य हुआ और वह कहने लगे कि बापू तुमसे फौरन मिलना चाहते हैं और तुम यहीं पर हो? मैंने उनको कहा कि इस बारे में मुझे तो कुछ भी मालूम नहीं था, कुछ ही देर पहले मुझे बापू के संदेशे मिले हैं और मैं वहीं जाने की तैयारी में हूं। फिर मैंने कनु से पूछा कि आखिर बात क्या है? कनु ने कहा कि उन्हें कुछ मालूम तो नहीं पर होनी चाहिए कोई गंभीर बात ही।

मैंने सोचने की कोशिश की कि मुझसे तो कोई गलत काम नहीं हुआ! और साथ ही मुझे लगा मानो मेरी याददाश्त ही बिलकुल गायब हो गई है। मै सीधा सेवाग्राम पहुंचा। महादेवभाई बेचैनी से मेरा इन्तजार कर रहे थे। जब मैं उनके पास पहुंचा तो उन्होंने पूछा, "क्या किया तुमने?" मैं बोला, "जहां तक मुझे खयाल है, मुझसे तो कोई गलत काम नहीं हुआ।" फिर मैंने महादेवभाई से पूछा कि आखिर बात क्या है? उन्होंने कहा कि उन्हें कुछ भी नहीं मालूम, लेकिन बापू बहुत बेचैन हैं। मैंने काका से अपने साथ चलने को कहा, पर उन्होंने कहा कि शायद बापू तुमसे अकेले में बात करना पसंद करें। अचानक ही न जाने कहां से मुझमें हिम्मत और विश्वास पैदा हो गया। मैंने सोचा कि जब मैंने कोई गलत काम नहीं किया तो फिर डर कैसा! मै बहुत शांत भाव से बापू की कुटिया में गया। बापू बहुत बेचैन-से लग रहे थे मानो उनसे कोई गलत काम हो गया हो। बापू का ऐसा भाव और वातावरण मैंने पहले कभी नहीं देखा था।

मेरे पहुंचने पर बापू ने छूटते ही पूछा, "सावित्री कहां रह रही है?" यह सवाल मेरी समझ में नहीं आया। कोई उत्तर न देते हुए उलटे मैंने उनसे पूछा, "क्यों बापू, क्या बात है?" उन्होंने अपना प्रश्न अधिक जोर देकर दोहराया, "कहां रहती है वह?" इस बीच मेरे मन में कई शंकाएं एकाएक कौंध गईं। कुछ अधिक हिम्मत भी आ गई। मैं बोला, "हमारे

साथ ही रहती है, और कहां?" ऐसा लगा कि मेरे जवाब से बापू का दर्द और अधिक बढ़ गया और उन्होंने अधिकार के स्वर में कहा, "तुम्हें उसके लिए अलग से एक मकान बनवाना चाहिए।"

मैं सोचने लगा कि क्या सावित्री ने बापू से कोई शिकायत की है, और यदि ऐसा है तो किस बारे में। लेकिन मेरी समझ में कुछ नहीं आ रहा था। मैंने कहा, "यदि आप ऐसा चाहते हैं तो वैसा ही होगा, लेकिन आखिर बात क्या है?" अबतक शायद बापू को भी भान हो गया था कि कुछ गलतफहमी हो गई है और वह तुरन्त कुछ शांत हो गए। फिर धीमे व समाधानपूर्वक स्वर में बोले, "मेरा यह मतलब नहीं है कि सावित्री अलग रहे, लेकिन उसके लिए अलग से एक मकान होना चाहिए, क्योंकि वह एक खास प्रकार के जीवन-स्तर की आदी है। और इस परिवार का मुखिया होने के नाते यह मेरा कर्तव्य था कि मैं उसकी जरूरतों और सुविधाओं का ध्यान रखूं। जब मुझे खयाल आया कि मैं अपने इस कर्तव्य को नहीं निभा पाया तो मैं बेचैन हो गया और इसलिए मैंने तुम्हें बुलाया। अब तुम्हें उसके लिए अलग मकान बनाने में देर नहीं करनी चाहिए।"

मैंने बापू से जानना चाहा कि क्या सावित्री ने इस बारे में उनसे कोई शिकायत तो नहीं की! इस पर बापू ने कहा, "नहीं, नहीं! तुम समझते क्यों नहीं कि सवाल उसके शिकायत करने का नहीं है, लेकिन यह तो हमारे ध्यान रखने की बात है।" बापू के हृदय की वेदना और भावों की गहराई को मैंने तब महसूस किया। मैंने बापू को बताया कि हम बजाजवाड़ी में नहीं रहते, बल्कि विवाह के बाद से ही हम शहर के पुराने मकान में रहने चले गए हैं। उस मकान की मरम्मत करवा दी गई है, बिजली भी लग गई है, नया फर्नीचर आ गया है और अब वह काफी सुविधाजनक मकान बन गया है। यह सुनकर बापू को शांति और खुशी हुई। पहले शायद उन्होंने सोचा होगा कि शादी के बाद भी मैं बजाजवाड़ी में ही रह रहा हूं और सावित्री को भी हमारी तरह ही रहने को मजबूर होना पड़ा होगा। इस बीच महादेवभाई भी आ चुके थे। उन्होंने दूर से ही हमें बातें करते देख लिया था और यह भांप कर कि कोई निजी बात नहीं है, वह कुटिया के अंदर चले आए थे। महादेवभाई को देखकर बापू बोले, "देखा महादेव, मैं भी कितना बेवकूफ हूं;

मुझे यह ध्यान ही नहीं रहा कि जमनालाल के रहते कोई गलती नहीं रह सकती।"

बापू बहुत थके-से जान पड़े। मैं भी मानसिक रूप से बहुत थक गया था। महादेवभाई मुझे अपनी कुटिया में ले गए। शायद ही हममें से किसी ने बात की, लेकिन हम दोनों को ही लग रहा था कि बापू की भावना में कितनी तीव्रता थी और वह कितने व्यावहारिक व मानवीय थे। हरेक व्यक्ति की भावनाओं और सुविधाओं का वह कितना खयाल रखते थे। बापू के इस शानदार पहलू को देखकर कौन ऐसा होगा जो कुर्बान न हो जाय, अपने और अपने सर्वस्व को अर्पण कर धन्यता महसूस न करे!

बापू जिन्ना से मिलने वर्धा से बम्बई जा रहे थे। इंजिन के पास वाले थर्ड क्लास के डिब्बे में वह और उनकी पार्टी एक तरफ बैठी थी। मैं भी साथ था। हर स्टेशन पर काफी भीड़ जमा हो जाती थी। बापू काफी परेशान और थके हुए थे। 'हरिजन' के लिए उनको लेख भी लिखना था। जरूरी बातें भी करनी थीं। दो स्टेशनों के बीच में वह काम करते जा रहे थे। अधिक रात हो जाने पर भी भीड़ का जमाव कम नहीं हो रहा था। दूसरे रोज बम्बई में भी व्यस्त कार्यक्रम था। अतः रात को उन्हें आराम मिलना बहुत जरूरी था।

भीड़ का उत्साह और जमाव देखकर किस प्रकार उसको इन्कार किया जाय, यह किसी की समझ में नहीं आ रहा था, न कोई हिम्मत ही कर पा रहा था। आखिर मुझको यह कार्य अपने ऊपर लेना पड़ा। जैसे ही स्टेशन आता, दबी हुई आवाज से, नम्रता के साथ मैं दर्शनार्थियों से कहता, "बापूजी बहुत थके हुए हैं, अगले दिन का भी व्यस्त कार्यक्रम है और जरूरी काम भी करना बाकी पड़ा है, रात को भी आराम न मिला तो उनकी तबीयत खराब होने का खतरा है।" फिर भी वे लोग कहते, "हमें कुछ नहीं चाहिए, एक सेकण्ड के लिए उनके दर्शन मात्र करा दीजिए। हम उन्हें किसी प्रकार की तकलीफ नहीं देंगे, न कुछ कहने का आग्रह करेंगे।"

दूर-दूर से लोग आते थे। रात भर खराब होने के बावजूद उनकी इतनी भी इच्छा पूरी नहीं कर सकने में एक ओर तो दर्द होता था, बुरा भी लगता था, तो दूसरी ओर बापू की स्थिति को देखते हुए उन पर भी

दया आती थी। कहीं-कहीं जनता शांति के साथ आग्रह करती रहती थी। मैं उसी तरह समझाता रहता था। माफी मांगता, हाथ जोड़े रहता और गाड़ी चल पड़ती थी। कहीं-कहीं पर जनता डिब्बे को ही नमस्कार करके लौट जाती थी। दो-एक जगह बापू स्वयं उठकर आ गए। इसी तरह से चल रहा था। गाड़ी चलती तो बापू सो जाते थे। स्टेशन आने पर हल्ला-गुल्ला होने से उनकी नींद उचट जाती थी। फिर भी नींद पर उनका इतना संयम और काबू था कि वह जब चाहें, जितने समय के लिए चाहें, सो सकते थे।

मैं जानता था कि कांग्रेस की कार्यकारिणी की बैठक के बीच जब दूसरे लोग चाय-पानी के लिए उठ जाते और बापू को आवश्यकता होती तो उसी बीच दस-पन्द्रह मिनट के लिए वह सो लेते थे। उनकी नींद भी गहरी हुआ करती थी। जितने समय के लिए उन्हें सोना होता उतनी देर सोकर अपने-आप ही वह उठ जाते थे। साधारण तौर से वह कह भी देते थे कि दस या पन्द्रह मिनट, जैसा भी समय हो उतने समय के बाद अगर वह न उठें तो उन्हें जगा दिया जाय, जिससे कांग्रेस-कार्यकारिणी का दुबारा कार्य शुरू करने में उनकी वजह से देरी न हो। कभी उनके उठने में एक आध मिनट की देर हो जाती या कांग्रेस कार्यकारिणी के सदस्यों को चाय आदि से निवृत्त होने में अधिक समय लगने वाला होता, ताकि बापू कुछ अधिक समय तक सो लें, फिर चाहे एक-दो मिनट की ही देरी क्यों न हो, बापू स्वयं उठ जाते और तब उनका उलाहना मिलता कि समय पर उन्हें जगाया क्यों नहीं गया। दूसरे लोग तैयार नहीं हैं या इसी तरह का अन्य कोई कारण वह क्षम्य नहीं मानते थे। समय की कीमत होनी ही चाहिए, इसका आग्रह रखते थे और दो-तीन मिनट में हाथ-मुंह धोकर फिर से तरोताज़ा हो जाते। दूसरे लोगों को फिर यदि कुछ देरी भी होती तो वह किसी अन्य कार्य में व्यस्त हो जाते या चर्खा कातने लग जाते थे।

मुझे यह भी पता था कि बापू १९३० से पहले के पुराने मॉडल की फोर्ड-कार के द्वारा देहातों की यात्रा के दौरान ऊबड़-खाबड़ रास्तों से गुजरते समय जरूरत पड़ने पर मोटरकार के चलते-चलते भी नींद ले लिया करते थे। 'इन्टरव्यू' भी दे देते थे। एक तरफ गाड़ी के धक्के लगते थे तो दूसरी ओर लिखने का काम भी कर लेते थे।

समय का जितना योजनाबद्ध व्यवस्थित उपयोग बापू करते थे, उतना मैंने

किसी अन्य को करते नहीं देखा। यदि कोई उनके नज़दीक इस विषय में पहुंच पाता है तो वह हैं विनोबा। फर्क इतना जरूर है कि जहां बापू काम करने में मशगूल और व्यस्त मालूम देते थे वहां विनोबा मशगूल जरूर लगते हैं, लेकिन उतने व्यस्त नहीं मालूम देते। उनके जीवन में सहज प्रवाह है।

इसी तरह रात बीत रही थी। रात के दो तीन वज गए होंगे, स्टेशनों पर भीड़ भी कुछ कम होने लगी थी। मैंने भी सोने की तैयारी की। मुझे पता था कि चिमूर और आष्टी के अत्याचारों के विषय में जो केस चल रहे थे उसमें कइयों को फांसी और लम्बी-लम्बी सजा भी हो चुकी थी। उनके वचाव का सारा कार्य मेरे संचालन में हो रहा था। वापू इसके विषय में सारी जानकारी लेना चाहते थे। लेकिन मैंने सोचा कि अव बंबई जाने पर ही, यदि फुर्सत मिली तो वहां, अन्यथा लौटने पर ही वात हो सकेगी। इस विचार से मैं निश्चिंत होकर लेट गया था। बीच-बीच में झपकियां भी आ जाती थीं। निश्चित समय पर वापू तथा अन्य लोग प्रार्थना के लिए उठ गए। मैं भी जाग ही रहा था, लेकिन प्रार्थना के लिए नहीं उठा। प्रार्थना हो जाने पर वापू ने मुझसे पूछा कि जाग रहे हो तो अभी कुछ वात कर लें। और सोना हो तो फिर वाद में देखेंगे। मैं हाथ लगा मौका नहीं जाने देना चाहता था। झट से उठकर हाथ-मुंह धोया, और उनके पास चला गया।

चिमूर तथा आर्ष्टी के वारे में शुरू से आखिर तक सारा किस्सा उन्हें सुनाया। हमारी ओर से जो गलतियां हुईं वे भी उन्हें वताईं और सरकार ने दमन के लिए जो अत्याचार किये उसकी भी उन्हें पूरी जानकारी दी। सारी घटना की वेदना से मैं पीड़ित था। जोश और आवेश तो था ही, और भीतर से गुस्सा भी काफी था। वापू को मैं जिस तरह से कह रहा था उसमें गुस्सा तो शायद उतना नहीं था, लेकिन मेरे कहने के ढंग में जोश और आवेश तो पूरा था। वापू ने काफी सवाल पूछे, उनके मैंने पूरी तरह से उत्तर दिये। कुछ वातें वापू के पास पहले ही आ चुकी थीं। कहते-कहते मेरे मुंह से निकल गया कि "सरकार ने जो केस चलाये हैं, उनमें न्याय का तो कोई सवाल ही नहीं, यह लोगों की जिन्दगी के साथ खिलवाड़ है। फांसी की सजा कानून के अन्तर्गत मानव-हत्याएं ही है और इस तरह की सरकार के न्याय को हम किस तरह से मान सकते हैं? नैतिक और कानून की दृष्टि से एक भी

सज़ायाफ्ता इसमें दोषी नहीं; फिर भला ऐसे लोगों को फांसी पर लटकाया जाय, इसे हम कैसे सहन कर सकते हैं? अहिंसा तो ठीक उन लोगों के लिए है, जिन्हें अपने प्राण अर्पण करने हों। लेकिन जव देखते हैं कि इस तरह वेगुनाहों के प्राण कानून के अन्तर्गत लिये जा रहे हों और जो अत्याचार के लिए सच्चे गुनहगार हैं, उनकी सरकार तरक्की करती हो तो क्या अहिंसा हमें यही कहती है कि लाचारी से हमें यह सव सहन करते रहना है? स्वयं के प्राण देना वीरता हो सकती है, लेकिन दूसरे निर्दोषों के इस तरह प्राण जाते देखना मुझे कायरता के अतिरिक्त कुछ नहीं लगता।"

वापू ने वड़ी गम्भीरता के साथ सारी वातें सुनीं। उन्हें जो सवाल पूछने थे पूछे, फिर दृढ़ता के साथ बोले, "बोलो, तुम क्या चाहते हो?"

मैंने कहा, "हमसे जो कुछ वन पड़ा आपकी और अन्य नेताओं की गैरहाजिरी में जी-जान से अव तक किया है। हमें आशा थी कि आपके जेल से वाहर आने पर इनको फांसी नहीं लगेगी। अव हमें नहीं सूझता कि क्या करें। इन लोगों की जिंदगी आपके हवाले है, आपको इस मसले को अपने हाथ में लेना होगा। अन्यथा हमें ही कुछ वताइये कि जिससे हम इस विषय पर और कुछ कर सकें। अव यह सहन नहीं होता है।"

वातावरण गंभीर वन गया था। वापू विचारों में मग्न हो गए। उनके दिल की तड़प अनुभव की जा सकती थी। भावावेश में मैंने भी वहुत कुछ कह दिया था। इससे भी थकान वढ़ गई, रात का जागरण तो था ही, मैं थककर चूर हो गया था। जैसे ही मैं उठने लगा, वापू ने कहा, "तुम इस वारे में एक वक्तव्य तैयार करके मुझे दो।" उनका आशय था कि 'हरिजन' में लेख लिखने और अखवारों में देने के लिए मैं मजमून वना दूं। मैं मौन सम्मति देते हुए जाकर सो गया।

चलने से पहले ही वर्धा में हमें खवर मिली थी कि चिमूर और आष्टी के केस में अभियुक्तों को फांसी की सजाएं दी गई हैं। कल्याण पर सुवह मेल के पहुंचते ही सव अखवारों की सुर्खियों में इसकी खवरें आईं। संवाददाता भी वापू से आकर मिले, चिमूर के वारे में वापू पर क्या प्रतिक्रिया हुई है, यह पूछने पर वापू ने अखवार वालों को अपने ववतव्य में कहा—

"I am opposed to state hangings in every case, but most so in cases

like this. Whatever was done by the people on and after the 8th August 1942, was done under excitement. If these hangings are now carried out, it will be cold-blooded, calculated murder and worse because it will be done ceremonially and under the name of so-called law. It will leave behind nothing but great increase in the already existing woeful bitterness. How I wish the threatened hangings were given up."

("मैं हर हालत में फांसी की सजा के खिलाफ हूं; लेकिन इस तरह के मामलों में फांसी देने के मैं सबसे ज्यादा खिलाफ हूं। ८ अगस्त १९४२ को और उसके वाद जनता ने जो कुछ भी कियां, वह उत्तेजनावश किया गया था। यदि इन फांसी की आज्ञाओं का पालन किया गया तो वह समझ-बूझकर की गई हत्या होगी, वल्कि उससे भी वदतर, क्योंकि वह तथाकथित कानून के नाम पर और घूमधाम से की जायगी। इससे और कुछ नहीं वल्कि दुखपूर्ण कटुता में वृद्धि ही होगी, जो अव भी काफी मात्रा में है। काश, इन फांसी की सजाओं को रद्द कर दिया जाता।")

उनका यह वक्तव्य ऐतिहासिक है। वापू जव यह वक्तव्य संवाद-दाताओं को दे रहे थे तव मैं जाग चुका था। वापू के मुख से जव ये शब्द निकले तो वातावरण में एक सनसनी-सी फैल गई। हजारों लोग जो प्लेटफार्म पर आये हुए थे, वे भी इस खवर से चिन्ताग्रस्त और दुखी थे। जव उन्हें वताया गया कि वापू ने इस तरह का वक्तव्य दिया है तो एक संतोष और समाधान की लहर-सी दौड़ गई। मेरे मन को भी तसल्ली हुई। मैंने वापू से जाकर कहा कि अव उनको फांसी नहीं लग सकती। आपने उनके प्राण वचा लिये।

वापू में कार्य करने की इतनी क्षमता थी, उनका साहस और धीरज इतना वड़ा था, समय पर वह इतने ऊंचे उठ सकते थे—इसका साक्षात दर्शन मुझे हुआ। यह भी उनकी निर्मलता और महानता थी। यह कहने की जरूरत नहीं कि इस वक्तव्य के वाद वायसराय से शायद लिखा-पढ़ी भी हुई और अन्त में सभी अभियुक्तों को छोड़ दिया गया था।

वापू गुजरात का दौरा कर रहे थे। एक-एक दिन में कई पड़ाव होते थे, लेकिन कांग्रेस-वर्किंग कमेटी के लिए या कांग्रेस के कुछ नेताओं से विचार-विनिमय के लिए वोरसद में वह दो-तीन दिन रुके। काकाजी

ने पांच-सात दिन के लिए मुझे उनकी निजी सेवा करने के लिए छोड़ दिया था। मेरी उम्र उस समय पन्द्रह या सोलह वर्ष की रही होगी। वापू कितने व्यवस्थित थे और छोटे-से-छोटे काम को भी कितनी ज़िम्मेदारी से करने-कराने में तत्पर रहते थे, इसका तत्व मुझे खासा अनुभव हुआ। मैं देखता था कि वह हर चीज़ का पूरा-पूरा उपयोग कर लेते थे। चादर के फटने पर छोटे-वड़े तौलिये, और उनके घिस जाने पर नींबू, पानी, दूध या रस छानने के लिए छोटे-से-छोटे टुकड़े बना लेते थे। जव वे टुकड़े भी जवाव दे देते थे तो उनसे सिगड़ी-चूल्हा सुलगाने का काम लेते थे या उन टुकड़ों को गला-सड़ाकर उसकी लुगदी वनाई जाती थी और उसके कागज़ वनते थे। कागज़ का भी वह जिस सावधानी से उपयोग करते थे, उस सावधानी से उपयोग करनेवाला दूसरा मैंने नहीं देखा।

बोरसद में कुछ तो व्यस्तता और कुछ मेरी असावधानी के कारण वापू के उन छानने के कपड़ों में से एक टुकड़ा खो गया। वात देखने में छोटी थी, लेकिन मैं जानता था कि वापू को उससे दुख पहुंचेगा। उसकी भी मुझे इतनी चिन्ता नहीं थी, क्योंकि मैं स्वभाव का ढीठ और मन का पक्का था। यह भी लगता था कि वापू गुस्सा होंगे तो हो लेंगे। आखिर जानबूझकर तो मैंने ग़लती की नहीं। यों मन को तसल्ली दे लेने पर भी एक वात का मुझे वड़ा डर और चिन्ता थी कि इतनी व्यस्तता और महत्वपूर्ण ज़िम्मेदारियों के सामने होते हुए भी कहा-सुनी करने में वापू के पंद्रह-वीस मिनट जरूर लग जायंगे। उनका उतना भी अमूल्य समय मैं वरवाद नहीं करना चाहता था। पर करता क्या? वह दिन तो मैंने चतुराई से निकाल दिया। अगले दिन वापू का मौन था। नेहरूजी आदि कांग्रेस के वड़े नेता या शायद कांग्रेस कार्य-समिति के सदस्य वापू से मिलने आने वाले थे। मैं चाहता था कि अपनी गलती की चर्चा वापू से उस समय करूं, जवकि वह व्यस्त न हों या बोरसद से चलते समय रास्ते में करूं, जिससे उनके समय का अपव्यय न हो। यही सोचकर मौनवार के दिन और नेताओं के साथ विचार-विनिमय करते समय मैं नया कपड़ा ढककर उनके खाने-पीने की चीज़ों को ले गया। आशा थी कि शायद उनकी निगाह से वच जाऊंगा, लेकिन वैसा होना आसान न था। बापू

ने मेरी चतुराई, या कहिये वदमाशी, ताड़ ली और चर्चा में व्यस्त होते हुए भी मुस्कराहट के साथ यह जानते हुए कि तुम्हारी चालाकी मैं समझ गया, उन्होंने चुपचाप उंगली के इशारे से डांट पिला दी। मैं वहां से चला आया। वाद में वर्तन वगैरा लाने को और किसी को भेज दिया। पर वापू सहज छोड़नेवाले न थे। शाम की प्रार्थना के वाद, मौन पूरा होने पर, उन्होंने मुझे बुलाया और मुझसे हकीकत पूछी। मैंने कह दिया कि कपड़ा मेरी गफलत से खो गया है, इसलिए मुझे दूसरा लेना पड़ा। उन्हें दुख हुआ। उस समय किसी को समय दिया था, इस कारण उन्होंने मुझसे कहा कि सबेरे प्रार्थना के वाद मेरे साथ घूमने चलना।

अगले दिन सुवह मैं उनके साथ घूमने गया। और लोग भी उनके साथ थे, पर वह पीछे थे। वापू ने अपने दिल का दर्द मेरे सामने रखा। उन्होंने कहा, "ऐसी गफलत हमसे कैसे हो सकती है? दरिद्रनारायण की सेवा का हमारा व्रत है। अगर उसका खयाल रखें तो ऐसी गफलत कभी न हो। अपने काम में हमारा ध्यान रहे तभी हमारा चित्त एकाग्र हो सकता है, ज्ञान मिल सकता है और कार्य की सिद्धि हो सकती है, अन्यथा हमारी सेवा और कार्य का कुछ अर्थ ही नहीं रह जायगा।"

मैंने टालने के लिए बीच में कहा, "दरिद्रनारायण की सेवा का व्रत तो आपका है। मैं तो आपकी चाकरी में हूं।"

वापू और गंभीर होकर बोले, "जव मैं दरिद्रनारायण की सेवा में लग गया तो उस समय मेरी सेवा करने का अर्थ भी दरिद्रनारायण की सेवा करना ही है। फिर तू तो जमनालालजी-जैसे कुशल व्यापारी का बेटा है। ऐसी गफलत तो तुझसे हो ही कैसे सकती है। इसके अलावा तू तो कातता भी है। उसमें कितना परिश्रम होता है, यह तुझे मालूम है। वह कपड़ा खो गया, यह तो एक जरा-सी वात है। पर अगर तू विचारेगा तो तेरी समझ में आ जायगा कि उसमें कितने लोगों का परिश्रम सम्मिलित था। खेती में कपास पैदा करनेवाले किसान से लगाकर चुनने, लोढ़ने, धुनने, कातने, बुनने और धोनेवाले तक कितने लोगों के परिश्रम से वह कपड़ा तैयार हुआ था। उस परिश्रम का आदर करना तो दूर रहा, अपनी लापरवाही से तूने उसका अनादर कर दिया। यह वात कैसे सहन हो सकती है? इस लापरवाही से हमारे स्वाभिमान

को धक्का लगा है। इसका अगर तू विचार करेगा तो तुझे पश्चात्ताप हुए विना न रहेगा।"

ऐसा ही एक प्रसंग मुझे और याद आता है। सेवाग्राम में वापू घूमने जा रहे थे। अन्य आश्रमवासियों के साथ-साथ मां और मैं भी उनके साथ हो लिये। घूमते समय चर्चा के लिए उन्होंने और किसी को समय दे रखा था। उनसे वातचीत करते हुए जैसे ही वह लौट रहे थे कि उन्हें रास्ते में पूनी का एक छोटा-सा टुकड़ा दिखाई दिया। इशारे से उन्होंने उसे उठा लेने को कहा।

मेरी इच्छा हुई कि मैं उसे उठा लूं, लेकिन मेरे उसे उठाने के लिए आगे वढ़ने से पहले ही दो लड़कियां उसे लेने को झपटीं और उनमें से एक ने उसे उठा लिया। मेरे मन में आया कि वह टुकड़ा मैं उनसे मांग लूं क्योंकि शायद वापू वाद में उसके वारे में पूछें। लेकिन इतनी छोटी-सी वस्तु होने की वजह से मैंने उसे नहीं मांगा।

घूमकर लौट आने पर जव वापू चर्खा कातने के लिए वैठे तव उन्होंने उस पूनी के टुकड़े को याद किया। जिस लड़की ने उसे उठाया था, उसकी खोज हुई। वह आई। वापू ने जव उससे वह टुकड़ा मांगा तो उसने कहा कि वह तो उसे कचरे की टोकरी में फेंक आई। इसपर वापू कुछ नाराज हुए और बोले, "मैंने उसे उठाने के लिए इसलिए कहा था कि तू उसे कचरे की टोकरी में डाल आवे?" लड़की ने जवाव दिया कि मैं तो उसे कचरा समझ कर ही उठाकर लाई थी और यह समझी कि वह कचरा गलत जगह पर पड़ा रहने से आपने उसे उठाने के लिए कहा है। इसलिए उसे संभालकर मैं कचरे के स्थान पर डाल आई।

वापू ने पूछा कि यदि वहां पैसा पड़ा होता तो क्या तू उठाकर उसे भी कचरे में डाल आती? उसने उत्तर दिया, "नहीं।" तव वापू बोले, "वह भी पैसा ही था। असली धन क्या है, तुम्हें आश्रम में रहकर यह पहचानना आना चाहिए। जिसने उस पूनी के टुकड़े को पूरा काते विना छोड़ा, उसने तो धन को फेंका ही। मैंने तुझसे उठाने को कहा तव भी तू उस धन को नहीं पहचान सकी। अव जाओ, उसको लेकर आओ। लज्जित स्वर से लड़की बोली, "वापू, मेरी गलती हुई कि मैं आपकी वात को पूरा नहीं समझ सकी। अव मैं उस टुकड़े को स्वयं ही कात लूंगी, आप उसके लिए न

ठहरें।" लेकिन वापू कहां माननेवाले थे। वह तो उस टुकड़े को स्वयं कातने को व्यग्र थे। अत: उन्होंने आग्रहपूर्वक उसे लाने को कहा। और ऊपर से उलाहना दिया कि वह कैसे विश्वास करें कि आगे और कोई गफलत न होगी। उन्होंने कहा कि परिश्रम से धन वनता है और धन वनने पर उसका सदुपयोग करना हमारा कर्तव्य है। लड़की बेचारी शरमा गई और जाकर कचरे में से पूनी के उस टुकड़े को ढूंढ़ लाई। उसपर कुछ मिट्टी और घास के टुकड़े लिपटे हुए थे। फूलकर वह कुछ फैल-सी भी गई थी। उसके वावजूद वापू ने उसको पूरी तौर से कातने के काम में लिया। उससे जो धागा कता वह रंग में मैला और सारे सूत में फर्क डालनेवाला था। इसकी परवाह न करते हुए वापू बोले कि बुनने के वाद जव कपड़ा धुलेगा तव यह मिट्टी भी उसपर से दूर हो जायगी।

सेवाग्राम की ही वात है। एक दिन जव मैं वापू की सेवा में था तो श्री आर्यनायकमजी वापू से मिलने आये। बेसिक शिक्षा की प्रवृत्तियों के एक केन्द्र के लिए सेवाग्राम में उन्होंने एक नई झोंपड़ी वनवाई थी। वह चाहते थे कि वापू उसे चलकर देखें। जव वापू उस झोंपड़ी को देखने गये तो मैं भी साथ हो लिया। झोंपड़ी में लट्ठे और वल्लियों का उपयोग किया गया था और ऊपर खपरैल लगी थी। अन्दर बांस की चटाई विछी थी और दीवारें मिट्टी की थीं, जिनपर गोवर लिपा था। झोंपड़ी को देखते ही वापू बोले, "इस काम के लिए लट्ठों और वल्लियों को खामख्वाह काटना और छीलना नहीं चाहिए था। यह सही है कि वल्लियों का माप ठीक नहीं है और वे टेढ़ी-मेढ़ी हैं, पर यदि उन्हें वैसे ही रहने दिया जाता तो झोंपड़ी की शोभा में वृद्धि ही होती। कला की दृष्टि से भी वह अधिक सुंदर दिखतीं। उन्हें काटने और छीलने में जो अतिरिक्त मज़दूरी देनी पड़ी उससे वचा जा सकता था, साथ ही यदि वल्लियों को अपनी असली शक्ल में रहने दिया जाता तो वे अधिक मजबूत रहतीं और दीमक से वचने के लिए वार्निश वगैरा की आवश्यकता नहीं पड़ती।"

श्रीमती आर्यनायकम भी हमारे साथ थीं और वह वापू की वात वहुत ध्यान से सुन रही थीं। कहने लगीं कि हमें इस चीज का खयाल नहीं आया, और साथ ही हम सोचते थे कि वल्लियों को इस तरह छीलकर

लगाने का यहां रिवाज है। किन्तु वापू की वात में कितना वजन था उसे हम सब लोग अच्छी तरह समझ रहे थे। इतना अनावश्यक व्यय, और वह भी वास्तविक व स्वाभाविक सुन्दरता को नष्ट करके !

कलकत्ता की वात है। कांग्रेस-कार्यकारिणी के सभासद जेल से छूट चुके थे। वापू सोदपुर-आश्रम में ठहरे हुए थे। जवाहरलालजी उनसे मिलने आनेवाले थे। उन्हें आजाद हिन्द फौज के विषय में वापू से महत्वपूर्ण चर्चा करनी थी। उनके आने का समय हो चुका था। जान-पहचानवालों में से एक परिवार के लोग वापू से मिलने आये हुए थे। उनमें से एक लड़के के साथ, जो उसी समय मैट्रिक या कालेज की कोई परीक्षा अच्छे नम्वरों से पास करके आया था, वातचीत और सवाल-जवाव करते हुए वापू को मालूम हुआ कि वे लोग शाम तक आश्रम में ठहरेंगे। इसपर वापू ने अपनी डाक में से ऐसे पत्र, जिनके वारे में सूचना-मात्र देनी थी, उस लड़के को दे दिये और सूचना भिजवाने को उससे कह दिया। नेहरूजी इस बीच आ चुके थे। लड़का वह डाक लेकर वाहर चला गया।

नेहरूजी के साथ वातचीत समाप्त होने के वाद वह लड़का आया और उसने दो-एक लिखे हुए पत्र वापू को दिये। वापू ने पूछा कि क्या इतना ही लिखा है? वाकी का क्या हुआ? उसने जवाव दिया कि और सव पत्र कलकत्ता के ही थे। उनको उसने टेलीफोन से सूचना दे दी है। केवल वाहर की चिट्ठियों के ही उत्तर दिये हैं। वापू ने कहा, "मैंने तो तुमसे टेलीफोन करने को नहीं कहा था।" उसने जवाव दिया कि जब सूचना ही देनी थी तो मैंने सोचा कि टेलीफोन से उन्हें खबर जल्दी हो जायगी, और काम भी जल्दी हो जायगा।

वापू ने उसे मीठे ढंग से उलाहना देते हुए कहा, "टेलीफोन करने में जिस व्यक्ति को उत्तर भेजना था वह मिले या न मिले, यह जोखिम रहती है। दूसरे, अगर किसी और ने संदेशा लिया हो तो उसके पहुंचने में गफलत हो सकती है। शाम तक तुम यहां ठहरने ही वाले थे। तुम्हारे पास समय की तो कमी थी नहीं। इसके अलावा यदि पोस्टकार्ड लिखते तो तीन पैसे में ही काम हो जाता। टेलीफोन में तो ज्यादा पैसे लगे होंगे। ये चिट्ठियां भी जो तुम लिख कर लाये हो, वे पोस्टकार्ड पर ही होनी चाहिए थीं। लेकिन

उसमें तो मेरी गलती है कि तुमसे पोस्टकार्ड पर लिखने को कहना चूक गया। पर मज़मून इतना छोटा था और बात इतनी साधारण थी कि यदि तुम स्वयं यह सोचते तो पोस्टकार्ड पर लिख सकते थे।" और आगे से एक-एक पाई का हिसाब किस तरह रखना चाहिए और फिजूलख़र्ची बिलकुल न हो, इसका ध्यान किस सीमा तक रखना चाहिए इसके बारे में उसको अच्छी तरह से समझाने लगे।

एक बार एक ग्रामीण कार्यकर्ता अपने इलाके में हरिजन-कार्य के संबंध में बापू की राय लेने आये। जहां तक मुझे याद आता है वह भाई आंध्र के सीताराम शास्त्री थे। उन्हें कोई बीमारी थी। बापू ने उनकी बीमारी के संबंध में उनसे काफी पूछ-ताछ भी की। बापू ने पूछा कि आप बहुत अधिक नमक तो नहीं खाते? उन्होंने उत्तर दिया कि बहुत ही कम नमक खाता हूं। बापू ने उनसे कहा कि नमक तुम्हें माफिक नहीं आता और अच्छा हो यदि तुम नमक बिलकुल ही छोड़ दो।

बातचीत खत्म होने पर बापू ने उन भाई से आश्रम में ही खाना खाने को कहा और उन्हें खाने का समय बता दिया। खाने के समय बापू ने उन भाई को अपने पास ही बैठने को कहा। परोसी हुई थाली उनके सामने रखी गई--स्वयं बापू ने कुछ चीजें उन्हें परोसीं। मंत्र बोलने के पहले बापू ने उन भाई से कहा कि थाली में से नमक निकाल दो। कार्यकर्त्ता महोदय ने समय खोए बिना बापू से कहा कि क्या फर्क पड़ता है, विश्वास रखिये, मैं नमक नहीं खाऊंगा। बापू ने कहा कि इसीलिए तो कह रहा हूं इसे निकाल दो ताकि यह बेकार न जाय। एक आश्रमवासी भाई तश्तरी ले आए और नमक उसमें निकाल दिया गया।

भोजन के बाद बापू ने मुझसे कहा कि मैं अपनी बैलगाड़ी में उन भाई को शहर छोड़ आऊं। रास्ते में वह भाई बहुत शर्मिन्दगी महसूस करते हुए बोले कि कैसी अजीब बात है, एक ग्रामीण होकर भी मैं यह नहीं महसूस कर सका कि यदि नमक थाली में से नहीं निकालूंगा तो वह बेकार जायगा। कहने लगे कि जिन्दगी में इससे बड़ा पाठ सीखने को उन्हें नहीं मिला।

सेवाग्राम में बापूजी ने बुनियादी शिक्षा का एक सम्मेलन बुलाया था। दूर-दूर से बड़े-बड़े शिक्षा-शास्त्री, विद्वान और कुछ नेतागण उसमें आये थे।

वापू का अत्यन्त मार्मिक, भावपूर्ण भाषण हुआ। कुछ अन्य लोगों के भाषण भी अच्छे हुए। राजाजी अंग्रेजी में वोले, वहुत ही सुन्दर । तर्क और बुद्धि से वह सवको अपने साथ वहा ले गए। जो कुछ उन्होंने कहा उसका बुद्धि पर प्रहार हुआ। वह बुद्धि-गम्य भी हुआ, परन्तु हृदय को उसने उतना छुआ नहीं। उन्होंने कहा कि वालक पर अत्याचार नहीं होना चाहिए। जो कुछ उससे कराया जाय वह समझा-बुझाकर ही कराना चाहिए। जवरदस्ती से उसको पढ़ाया भी न जाय। राजाजी के शुद्ध तर्क और प्रभावशाली वक्तव्य से वातावरण में एक असर हो गया। उस पर चर्चा भी चल पड़ी। कांफ्रेंस का शायद वह आखिरी दिन था। मुझे राजाजी की वात वहुत कुछ ठीक लगी, लेकिन वच्चों पर जवरदस्ती न की जाय और जो कुछ कराया जाय वह वच्चों को समझाकर ही कराया किया जाय, इन दोनों विचारों में विसंगति लगी। मैं वापू के पास गया, लेकिन उस रोज मेरी उनसे वात न हो सकी। मेरा दिल भरा पड़ा था, उसमें रोष था। मैं घर लौटा। राजाजी वजाजवाड़ी पहुंच चुके थे। उनके साथ 'टाइम्स आफ इंडिया' के वर्धा के प्रतिनिधि बैठे चाय पी रहे थे। मेरे पहुंचते ही राजाजी ने पूछा, "कांफ्रेंस कैसी लगी?" मैंने कहा, "भाषण अच्छे हुए। आपका भाषण भी वहुत सुन्दर था, लेकिन आपकी एक वात की विसंगति ने मुझे बेचैन कर रखा है।" उन्होंने पूछा, "क्या?" मैंने कहा, "आप कहते हैं कि वच्चों पर जवरदस्ती न की जाय, उन्हें समझाया जाय। मेरे अन्दर का वालक विद्रोह करता है आपकी वात पर। आपको क्या हक है कि आप वालक के अविकसित मस्तिष्क पर अपनी परिपक्व बुद्धि का प्रहार करें? अपने श्रेष्ठ मस्तिष्क के कारण यह संभव है कि आप वालक को सहज ही संतुष्ट कर दें। लेकिन क्या यह सही और उचित है? मैं कहता हूं मुझे अकेला छोड़ दो, मेरे सामने कोई चीज सिद्ध करने का प्रयत्न मत करो। मैं चाहता हूं मेरा विकास स्वतंत्र और स्वाभाविक रूप से हो, भले ही उसके लिए मुझे अपने वल व शक्ति की कीमत क्यों न चुकानी पड़े! अधिक-से-अधिक आप मुझे आधुनिकता की चमक और रूप ही तो दे सकते हैं। मेरी शक्ति ही मेरा ज्ञान है, और मेरा ज्ञान ही मेरी शक्ति। मुझे आपकी दया और सहानुभूति नहीं चाहिए, दरअसल मुझे उसकी परवाह ही नहीं।

"मेरा संरक्षक वनने की भी कोशिश मत कीजिए। उम्र में मैं वालक जरूर हूं, लेकिन मेरा अपना व्यक्तित्व है, जिसे अपने तरीके से विकसित करने के लिए मैं स्वतंत्र हूं। मैं अपने जीवन में आपका किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं चाहता। मेरे साथ वालक जैसा व्यवहार मत करें। मैं शक्तिशाली पुरुष हूं। मेरा स्वाभाविक व प्राकृतिक विकास होने दीजिए। उसमें काट-छांट करने की कोशिश मत कीजिए। मुझे किसी भी प्रकार का विशेष संरक्षण और देखभाल नहीं चाहिए क्योंकि उससे मेरी आत्मा, प्रतिष्ठा और व्यक्तित्व के नष्ट हो जाने की आशंका है।"

राजाजी सुनकर दंग रह गए। उन्होंने कहा, "ये तो काफी गहरे विचार हैं। तुम सम्मेलन में क्यों नहीं बोले?" मैंने कहा, "मैं कोई आमंत्रित प्रतिनिधि तो था नहीं जो वहां बोल सकता।" राजाजी ने इस वात पर वल दिया कि मैंने जो कुछ कहा उसमें काफी बौद्धिक भोजन है। वह चाहते थे कि अगली शाम को, जव वह वापू से मिलने जांय तो मैं भी उनके साथ चलूं।

वापू मुस्कराये। पूछा, "तुम क्या चाहते हो?" मैंने कहा, "मेरे मन की प्रतिक्रिया मैं आपको वता सकता हूं। यह तो आप लोगों के सोचने की वात है कि आगे क्या करना है। उस वारे में मैंने कुछ सोचा भी नहीं है और न मुझे विशेष कुछ कहना है।" वापू और राजाजी के बीच भी चर्चा हुई। उन्होंने इस वात को मंजूर किया कि मूलभूत जो कुछ मैंने कहा उसमें काफी वल है, सचाई है। लेकिन आचरण में लाने के लिए कुछ नियम और वन्धन अनिवार्य रूप से स्वीकार करने ही पड़ेंगे। ये वन्धन लाचारी के हैं, फिर भी उसमें सोचने की गुंजाइश है। दोनों ही उस पर गौर करेंगे ऐसा उन्होंने जताया।

कोई भी विचार किसी छोटे से व्यक्ति से ही क्यों न आया हो, यदि उसमें कुछ सत्य है तो वापू उसको ले लेते थे। कीमत विचार की थी, किस मनुष्य से वह आया, उसकी नहीं। छोटों का वह इस तरह से हौसला वढ़ाते थे। उनको सोचने का अवसर देकर उनकी प्रतिभा का आदर करते थे और उनके व्यक्तित्व को प्रोत्साहन देते थे। जीवन में वह इसी तरह सिखाते-सिखाते सीखते थे, और सीखते-सीखते सिखाते थे। सतत कार्यों में लगे रहते हुए भी निरन्तर सीखते रहते थे। यही वजह थी कि

उनके जीवन में शिथिलता नहीं आई और विचारों में हमेशा नवीनता वनी रही। विचारों को आचार में परिणित कर वह विचारों को सजीव वना देते थे। उनकी भाषा (वाणी) में सत्य के कारण तेज होता था, आचार की वजह से प्रभाव पड़ता था, अनुभव की वजह से प्रवाह आता था। और यही कारण है कि उनके कार्यों में पुरुषार्थ होता था तथा वे काम प्राणवान वन पड़ते थे। आजकल असलियत को छोड़कर जव हम वनावटी और दिखावटी रूप से ही चिपटे रहते हैं तो उसमें से जीवनदायी वायुमण्डल कैसे तैयार हो सकता है? उसमें से तो शिथिलता, बुजदिली और कायरता ही निपजती है।

●

बापू के पत्र

यरवडा-मंदिर, २-८-३०

चि० कमलनयन,

तेरा पत्र मिला। मेरे गुजराती अक्षर पढ़ सकते हो क्या? न पढ़ सको तो हिन्दी में लिखूंगा। जैसे इस वार पत्र लिखा है उसी तरह लिखा करना। पिताजी को मिलने जाय तो कहना कि वजन वढ़ाकर वाहर निकलें।

तुम्हें अक्षर सुन्दर और स्पष्ट लिखना चाहिए। अपना शरीर खूब सुधारना।

काकासाहव का आशीर्वाद।

ओम् कहां है? मदालसा को कहना कि लिखे। कमला और रामेश्वर को पत्र लिखने के लिए लिखना।

राधाकिशन कहां हैं? कैसे हैं?

बापू के आशीर्वाद

चि० कमलनयन,

तेरे अक्षर सुन्दर तो लगते हैं लेकिन स्पष्ट नहीं हैं। 'द' और 'ह' एक जैसे होते हैं। 'अच्छा' में 'अ' अधूरा है। और 'च्छा' में 'च' अलग पड़ गया है और 'ट' पढ़ा जाता है। 'छा' 'व्य' पढ़ा जाता है।

यरवडा-मंदिर, १२-८-३०

चि० कमलनयन,

तुम्हारा पत्र मिला है। अभी तुम्हारा धर्म शरीर (सुदृढ़) वनाना है। खूराक ठीक है। कसरत वरावर करना। जितना हो सके खादी का काम करना। मुझे पत्र लिखते रहना। कमला कैसी है? मदालसा क्या करती है। जानकी वहन को कहना कि पत्र लिखें। पिताजी की खूराक क्या है? तुम रोज कितना कातते हो? कुछ पढ़ने का समय मिलता है?

वापू के आशीर्वाद

काकासाहव आशीर्वाद भेजते हैं।

यरवडा-मंदिर, ६-९-३०

चि० कमलनयन,

तेरा खत मिला। अच्छा लिखा गया है। यदि वहीं काफी काम है तो अजमेर जाने की आवश्यकता मुझे प्रतीत नहीं होती है। अजमेर में ज्यादा जरूरत किसी की है तो जाना चाहिए सही। यहां से निश्चयपूर्वक अभिप्राय देना मुश्किल है। माताजी क्या कहती हैं? धार्मिक निर्णय तो टुकड़ी का सरदार ही दे सकता है। आजकल सुरेन्द्रजी हैं उनसे पूछना।

मराठी में खत लिखना मेरे लिए प्रायः अव तक तो असम्भावित है। पढ़ने का मुझको समय भी कम मिलता है। जानकी वहन को कहो मुझे लिखे।

का० सा० के आ०।

वापू के आशीर्वाद

यरवडा-मंदिर, २२-९-३०

चि० कमलनयन,

तुम्हारा पत्र मिला। तुम्हें अक्षर साफ लिखना चाहिए। गठे हुए हैं पर स्पष्ट नहीं। आज से न सुधारोगे तो पीछे सुधरनेवाले नहीं हैं। तुम अजमेर खुशी से जाओ। वहां से भी पत्र लिखते रहना। शरीर को बिगड़ने न देना।

वापू के आशीर्वाद

शिमला, १९-७-३१

चि० कमलनयन,

तुम्हारे बारे में काकासाहव से बातें की थीं। तुम बिलकुल अव्यवस्थित हो गए हो। प्राइवेट शिक्षक रखने की बात तो हममें से किसी के गले नहीं उतरती। अगर विद्यापीठ में शिक्षण का वातावरण न मालूम दे तो पूना में एक स्कूल है, जहां तुम्हें भेजा जा सकता है। तेरा विचार हो तो तजवीज करूं। काकासाहव से चर्चा करना। मेरा अपना अनुभव यह है कि जिसे सचमुच पढ़ने का शौक होता है, वह चाहे जहां अपनी इच्छा पूरी कर सकता है। यह होते हुए भी तुझे रोकने का विचार बिलकुल नहीं है। जहांतक हो सके तुझे अनुकूलता देनी है।

२१-८-३२

चि० कमलनयन,

तुम्हारा धर्म मुझको जेल से निकलते ही लिखने का था। मैंने खत लिखा था, वह मिला था। तुमने तो खूब अनुभव लिये। विलायत जाने के पहले तुम्हारा पत्र था, ऐसा कुछ स्मरण आता है। मैंने प्रश्न का उत्तर दिया था, ऐसा भी कुछ खयाल रह गया है। अब तो प्रश्न भूल गया हूं। मुझे दुबारा लिखो।

नर्मदा बेडौल चित्र देकर ठीक निकल गई। वह आलस्य की निशानी है।

बापू के आशीर्वाद

फरवरी, १९३४

चि० कमलनयन,

पिताजी का भेजा अंग्रेजी पत्र कल मिला और उसका जवाव भी भेज दिया। तेरा पत्र आज मिला।

मैंने यह सलाह दी है कि तुम्हें हिन्दी में उत्तमा परीक्षा देनी चाहिए। और अंग्रेजी पर अच्छा अधिकार प्राप्त कर लेना चाहिए। इस प्रकार तुम परिपक्व हो जाओ और अभ्यासी बन जाओ। उसके वाद फिर पश्चिम की तरफ जाओ तो पूरा लाभ उठा सकोगे। जव जाने का समय आवे तो मेरी सिफारिश है कि पहले अमेरिका जाओ। उसके वाद इंग्लैण्ड और फिर यूरोप के दूसरे प्रदेश। अन्त में जापान और चीन।

यह मुझे अच्छा लगता है कि तुम्हें परीक्षा का लोभ नहीं है। अमेरिका में तुम एक साल रहकर सूक्ष्म अनुभव प्राप्त करो, अंग्रेजी का अभ्यास वढ़ाओ, और फिर दूसरी जगह इच्छानुसार रहो। सव मिलाकर वाहर दो वर्ष रहो। इस प्रकार तुम्हें खूव अनुभव मिल जायगा और अपना भविष्य वना सकोगे। इस विचार में अनुभव के आधार पर जो परिवर्तन करना पड़े वह किया जा सकता है। मुख्य वात यह है कि तुरन्त तो पश्चिम की ओर जाने का विचार छोड़ना चाहिए। हिन्दी पूर्ण करने और अंग्रेजी पक्की करने के लिए मैं चार वर्ष जरूरी समझता हूं। हिन्दी के लिए ही संस्कृत अभ्यास की आवश्यकता भी जरूरी समझता हूं। चार वर्ष तक राह देखना मैं अधिक नहीं समझता। रामकृष्ण को आशीर्वाद। उसे संभालते होगे।

वापू के आशीर्वाद

वर्धा, ३-६-३५

१. कम बोलना।
२. सवकी सुनना लेकिन, शुद्ध हो वही करना।
३. हर मिनिट का हिसाव रखना और जिस क्षण का काम उसी क्षण करना।
४. गरीव के समान रहना। धन का अभिमान कभी मत करना।
५. पाई-पाई का हिसाव रखना।

६. अभ्यास ध्यानपूर्वक करना।
७. इसी प्रकार कसरत करना।
८. मिताहारी रहना।
९. डायरी लिखना।
१०. बुद्धि की तीव्रता की अपेक्षा हृदय का वल करोड़ों गुना कीमती है, अतः उसका विकास करना। उसके विकास के लिए गीता का, तुलसीदास का मनन आवश्यक है। भजनावली रोज पढ़ना। प्रार्थना रोज दोनों समय करना।
११. अव सगाई की है तो तू खूंटे से बंध गया है। मन को दूसरी स्त्री की तरफ कभी न जाने देना।
१२. मुझे अपने कार्य के हिसाव का एक पत्र हर हफ्ते लिखा करेगा, तो तेरा कल्याण है।

वापू के आशीर्वाद

वर्धा, १२-६-३५

प्रिय कमल,

तुम्हारा पत्र मिला। तुमने सोमसुन्दरम् और वर्नार्ड को तार भेजे सो ठीक किया। तार में 'काइंडली' (कृपया) या 'प्लीज' (मेहरवानी करके) न लिखना यह तेरा मारवाड़ीपन है या अज्ञान है? तुम्हें रीतिभांति ठीक तौर से सीखनी चाहिए। 'थैंक्स' (धन्यवाद) और 'प्लीज़' का उपयोग तुम जितना करते हो उससे अधिक करना चाहिए और 'इफ यू प्लीज' (यदि आप चाहें) का भी। यह नोट कर रखो।

सोमसुन्दरम् और वर्नार्ड के पत्र मेरे पास आये हैं, जो तुम्हें देखने को भेजता हूं। वर्नार्ड ने जिस पुस्तक के अनुवाद की वात की है वह मेरी वापू के जीवन-चरित्र की संक्षिप्त आवृत्ति है, जो मैंने तुम्हें पूना में दी थी। इस पुस्तक का तुम वहां विद्यार्थियों में प्रचार करना, गांधिज्म (गांधीवाद) का प्रचार करना और वापू का और जमनालालजी का योग्य प्रतिनिधि वनकर लौटना। यह तुम्हें मेरे आशीर्वाद हैं।

लि०
महादेव

वर्नार्ड की पत्नी बीमार है। शायद वह अपने पिता को देखने विलायत जाने वाली होगी। वर्नार्ड की स्थिति कैसी है, यह भी तुम्हें उनके पत्र में देखने को मिलेगा, इसलिए सब समझकर तू व्यवहार करना।

वर्धा, १६-७-३५

चि० कमलनयन,

पिताजी से सुना कि.....अव तुमसे शादी नहीं करना चाहती, इस कारण कल उसे मुक्ति दे दी। हमें यही शोभा देता है। तुम स्वस्थ होगे। तेरे नसीव अच्छे ही हैं। इस कारण तुम्हें योग्य स्त्री ही मिलेगी। अभी तो तुम अपने अध्ययन और अपने चरित्र गठन की तरफ ही सबकुछ छोड़कर लग जाओ। मुझे पत्र लिखना तो वाकी है ही। अपनी अंग्रेजी का सुधार करना। रसपूर्वक अध्ययन करना, शरीर मज़बूत वनाना। मजदूरी करने में आलस्य मत करना। उसमें शर्म की तो वात ही क्या है?

वापू के आशीर्वाद

वर्धा, २५-७-३५

चि० कमलनयन,

तुम्हारा स्वच्छ खत मुझे मिला है। अपने दोषों को स्वीकार कर लेता है सो तो वहुत अच्छा है। अव (एक) कदम आगे जाओ। दोषों को दूर करने का वड़ा प्रयत्न करो। रोजनिशी में नित्य कर्म दे सकता है। प्रार्थना दो वार कर ही सकता है। रामधुन तो है ही। आलस्य छोड़ने के लिए सबसे अच्छी वात यह है कि नित्य के नियम वना लेना और उनपर कायम रहना। भले कम काम हो। व्यायाम को नित्य कर्म का अनिवार्य हिस्सा माना जाय।

वापू के आशीर्वाद

वर्धा, ४-९-३५

चि० कमलनयन,

तुम्हारा पत्र देरी से ही सही, पर मिला यह ठीक हुआ।

अरे रामजपन भी अचूक करेगा तो तेरा भला ही होगा।

वहां तू हाथ-कागज इस्तेमाल नहीं कर सकता इसकी चिन्ता नहीं। इसके लिए तेरे अन्दर उत्साह और गरीबों के प्रति अत्यन्त अनुकम्पा होनी चाहिए। यह तुम्हारे स्वभाव में पैदा हो जाय तब अपने आप तुम यह सब कर लोगे। जो वस्तु तुम अपने मन के उत्साह से करोगे वही ठीक है, वही तुम्हें फलेगा।

तुम वहां बैठे-बैठे ब्रिटिश और अन्य विदेशी के भेद में मत पड़ना।

कपड़े के बारे में भी एक बात कह दूं। वहां खादी का आग्रह स्वेच्छा से नहीं रख सकते हो तो उसे छोड़ देना। जिसमें तुम्हें सुविधा है वह पोशाक पहनना और जिसकी सुविधा हो उस कपड़े की बनाना। मैं समझता हूं कि इनमें तुम्हारे सारे प्रश्नों का उत्तर आ जाता है।

अर्थात विदेशी या मिल के कपड़े का ओवर-कोट पहन सकते हो। मोजे पहन सकते हो, कसरत का बनियान पहन सकते हो। ये सब चीजें हाथ की ही प्राप्त करने का प्रयत्न करना बुरा नहीं है। लेकिन ऐसा न करो तो पाप नहीं माना जायगा।

वहां तुम्हारा मुख्य काम अपना अध्ययन पक्का करना है। निर्भयता, वीरता, दृढ़ता, उद्यम, उदारता, दया, प्रेम इन सबका विकास करना है। सादगी और नम्रता बढ़ानी है। वहां के जीवन का निरीक्षण करना है। क्षण-क्षण का सदुपयोग करना। डायरी लिखना।

तेरा पत्र लौटाता हूं। कोई बात रह जाती हो तो पूछ लेना।

बापू के आशीर्वाद

सेगांव, ६-७-३६ १३१

चि० कमलनयन,

इसके साथ तीन पत्र भेजता हूं। ये तीस का काम करेंगे। बुडब्रुक बरमिंघम में है। वह अच्छी संस्था है। उनके सम्पर्क में जल्दी ही आ जाना।

यह लिखते-लिखते लगा कि प्रोफेसर होरेस अलेक्जेंडर को भी पत्र भेजूं, अर्थात चार पत्र हो गए। वह वुडब्रुक के हैं। मुझे नियमित रूप से लिखना। सुनना सवकी लेकिन करना अपने मन की। और तुमसे जो आशाएं बंधती जाती हैं उसके अनुसार ही। वहां के प्रलोभनों की सीमा नहीं है। अपना नाम शोभित करना और उसके गुण याद करके 'कमल' के समान कीचड़ में रहकर भी अलिप्त रहना। इससे सवकुछ कुशल ही होगा। अपनी शक्ति के अनुसार ही डुवकियां लगाना। किसी की प्रतिस्पर्धा मत करना। प्रत्येक क्षण का सदुपयोग करेगा तो तेरी शक्तियां जितनी विकसित होनी होंगी, हो जांयगी। रामायण और गीता का गहरा अभ्यास करना। रोज अध्ययन करना। मूल गीता तो पढ़ोगे ही, लेकिन एडविन अरनोल्ड का 'सांग सेलेशियल' भी पास रखना।

वापू के आशीर्वाद

वर्धा, ७-७-३६

प्रिय कमलनयन,

इसके साथ पूज्य वापू का लिखा पत्र और उसके साथ के अन्य खत भेजता हूं। म्यूरिल के नाम तथा अन्य पत्र मैंने घर भेजे थे, वे तुझे दूसरी डाक से मिलेंगे।

आखिर तुम चले। एक दिन तो तुमने मेरे साथ लम्बी वातें कीं, पर फिर तो तुमने मुझसे कोई वात ही नहीं की। वाद में तो तू अपने आप कलकत्ते गया। वहां वहू की पसन्दगी कर आया, और सव कुछ तय हो गया, अवतक तुमने तो मुझे कोई खवर दी ही नहीं। खैर, मुझे जवर्दस्ती तुम्हारा मुरव्वी नहीं वनना है। मुझे जितनी खवर देनी योग्य हो उतनी ही देना। तुझमें दिलचस्पी लेना मैं नहीं छोड़ दूंगा। वहां भी तुम्हारी प्रगति की शुभेच्छा रखूंगा, और तुम अपनी सभी मनोकामनाएं पूरी कर आओ, यह देखना चाहूंगा।

सीलोन में था तव तो तेरे अंग्रेजी पत्र कभी-कभी सुधार कर भेजता था। अव तो शायद तू मेरे पत्र विलायत से सुधार कर भेजेगा। तो भी मुझे तुम्हारी ईर्ष्या नहीं होगी। इतनी प्रगति कर आओ, ऐसा मैं चाहूंगा। पर

अंग्रेजी तो ठीक, अंग्रेजी के अलावा विलायत में वहुत अधिक सीखने का है, और वह भी जल में कमलवत्, अथवा वापू के कथनानुसार कीचड़ में कमल-वत् रहकर सीखना हो वह सीख आओ और वापू से सवाया कमाओ और कीर्ति प्राप्त करो।

पोलक लन्दन में है। यह आदमी वड़ा ही व्यवहार-कुशल है। भारतीय राजनीति में 'लिवरल' जैसा है, पर वापू का भक्त है। उसकी पत्नी वड़ी अच्छी वहन है। अभ्यास (पढ़ाई) के सम्वन्ध में अगर वह प्रो० लास्की से परिचय करा दे तो उनकी सलाह तुम अक्षरशः मान सकते हो। होरेस अलेक्जेंडर वहुत भला आदमी है। ऐसा है कि तुरन्त मित्र वनने जैसा, उसे वर्नार्ड अच्छी तरह जानते हैं। उसके पास तो हरेक डिटेल (विवरण) में सलाह मिल सकती है—कौन से नाटक देखे जांय—कौन-कौन से अखवार, साप्ताहिक पढ़ना, किस तरह के आदमियों से सावधान रहना, आदि-आदि। उनसे भी तुम यथाशीघ्र मिल लेना।

अव पत्र पूरा करूं। तुम्हें तो रवाना होने के पहले वहुत से पत्र मिलेंगे और वहुत लिखने होंगे, इसलिए इसे भी लम्वा क्यों करूं?

मैं कभी पुस्तकें मंगाऊं तो भेजोगे क्या?

और कुछ नहीं तो इस पत्र की पहुंच तो लिखना ही।

लि०, शुभेच्छुक
महादेव

१९३६

१. चार वर्ष, अथवा कमलनयन का अध्ययन पूरा हो तवतक, विवाह न करना।

२. सावित्री को अव जो शिक्षा लेनी हो वह हिन्दुस्तान में ही ले। विवाह के वाद दोनों प्रवास के लिए या और कोई काम से जहां इच्छा हो जांय।

१३३

३. कमलनयन-सावित्री के बीच पत्र-व्यवहार की खुली छूट होनी चाहिए। पत्र खानगी होने की जरूरत नहीं समझता।

४. सावित्री को विवाह से पहले भी समय-समय पर वर्धा या जानकी वहन वगैरा जहां हो, आते-जाते रहना चाहिए।

वापू

सेगांव, २६-२-३७

चि० कमलनयन,

तुम्हारा पत्र मिला। तुम गहरे उतर रहे हो और यहां सब तुम्हें जल्दी बुलाने की वात कर रहे हैं। तुम्हारे श्वसुर भी जल्दी मचा रहे हैं। जानकी वहन की भी यही इच्छा है। पिताजी का भी लगभग यही अभिप्राय है। मैं खुद तटस्थ हूं। यद्यपि मैं मानता हूं कि तुम वहीं से वहुत कुछ ले आने वाले हो, परन्तु जवतक वहां रहने का मोह हो तवतक तुम्हें यहां बुलाना मुझे ठीक नहीं लगता। अगर तुम्हें व्यापार में लगना हो तो डिग्री का मोह छोड़ना चाहिए। वैरिस्टर होकर क्या करोगे? ग्रेज्युएट होकर क्या करोगे? जहां तक मैं तुम्हें समझता हूं तुम्हें कमाई करनी है, पिता के धन पर नहीं रहना। साधु भी नहीं वनना है। यह ठीक हो तो व्यापार में ही तुम्हारा पुरुषार्थ है। इतना स्वीकार करो तो तुम बैरिस्टरी अथवा डिग्री का लोभ छोड़ो। तुम्हारी अंग्रेजी अव ठीक-ठीक हो जानी चाहिए। परन्तु अगर तुम्हें डिग्री लेनी ही हो, कैम्ब्रिज या आक्सफोर्ड में रहना हो तो दीनवन्धु एंडरूज से मिलना। आक्सफोर्ड या कैम्ब्रिज में जिन्हें जानता हूं उन्हें एंडरूज के द्वारा ही पहचानता हूं। इसलिए तुम उनसे मिल लो। वह तुम्हारी उचित व्यवस्था करा देंगे। वह कैम्ब्रिज में रहते हैं। उन्हें तो तुम पहचानते ही हो। फिर भी मैं उनको लिखता हूं। इसलिए जव तुम उनको मिलोगे तव उन्हें याद आ जायगी। उनका पता पेमब्रोक कालेज, मास्टर्स लाज, कैम्ब्रिज है। जो कुछ करो पूर्ण विचार करके करना। मुझे लिखते रहना। लिखने में तुम कुछ आलस्य करते मालूम होते हो।

१३४

वापू के आशीर्वाद

२५-६-३७

चि० कमलनयन,

मि० कैलनबैक मुझे परेशान कर रहे हैं कि विवाह प्रसंग पर तुम्हें

कोई भेंट भेजें। वह सौ से अधिक रुपये खर्च करना चाहते हैं। उन्होंने तो २५ पौंड कहा। मैंने साफ ना कर दी। मुझे पूछा कि क्या देना चाहिए। मैंने कहा, पुस्तकें। उन्होंने पूछा कि कौन-कौन सी पुस्तकें, मैं निश्चय न कर सका। तुम्हीं वताओ, तुम्हें कौन-सी किताबें अच्छी लगेंगी?

जवाव वापसी डाक से भेजना।

वापू के आशीर्वाद

सेवाग्राम, १५-६-४२

चि० कमलनयन,

फूल गंगा में पधरा (प्रवाहित कर) दिये, अच्छा हुआ। माताजी का चित्त शांत हुआ। हरिद्वार में दिल लगे तवतक रहें।

मदन को भेजने में कोई हरज नहीं है। आना चाहे तो आवे।

वापू के आशीर्वाद

सेवाग्राम, २२-११-४५

चि० कमलनयन,

मैं जाऊं तवतक तुम यहां नहीं पहुंचोगे, ऐसा समझकर यह पत्र लिख रहा हूं। तुम्हें मालूम होना चाहिए कि नागपुर बैंक जमनालालजी की है, उन्होंने इसे परोपकार के लिए खोली थी। गरीबों के लिए यह सेविंग्स बैंक वन सके, यह उनकी कल्पना थी और आज भी यही होना चाहिए। इसलिए यह बैंक टूटनी नहीं चाहिए। यानी बैंक आफ इंग्लैण्ड, इम्पीरियल बैंक जव टूटे और यहां कोई उल्कापात हो तो ही नागपुर बैंक टूटे, अर्थात वह अन्त में टूटे, शुरू में नहीं। उसकी ऐसी साख वन जानी चाहिए। तुम जमनालालजी के वारिस हो। उसका सच्चा अर्थ तो यही है कि तुम उस साख के वारिस हो और यह समझकर ही मैंने जलियावाला ट्रस्ट को सलाह दी कि वहां के पैसे वहीं रखें और अधिक भेजने की चेष्टा करें। यही सलाह मैंने कुमारप्पा को दी है कि ग्रामोद्योग के पैसे वहीं रखें। यह विश्वास गलत सावित नहीं होना चाहिए। फिर भी कल आते ही स्टेशन के ऊपर मुझे भारतन ने दूसरी ही वात वताई। ससने तो प्रेमपूर्वक वात की और ससका प्रमुख हूं, इस

हैसियत से उसने पूछा। कुमारप्पा ने मुझे पूछा था कि—बैंक में ग्रामोद्योग के पैसे रखें या नहीं? वैकुंठभाई ने यह सलाह दी थी, इसलिए उन्होंने यह मान लिया था कि मैं स्वीकार कर ही लूंगा। परन्तु मैंने तो शंका उठाई और स्वीकार नहीं किया। और कुमारप्पा उस बैंक में पैसे जमा करा चुके थे। लेकिन अव वहां से पैसे वापस निकाल ही लेने चाहिए। पर उस हालत में ब्याज खोना पड़ेगा। ब्याज खोते हुए भी न निकाल सकें तो? इसलिए भारतन ने मेरी सलाह मांगी। कुमारप्पा अभी यहां नहीं हैं। परन्तु मैंने कहा कि अगर वे लोग आपत्ति करें तो झगड़ा करके भी पैसे निकाल ही लेने चाहिए। नहीं तो मैं मानूंगा कि यह रकम जोखिम में है। और यह वाघरी के लिए भैंस को मारने जैसा होगा।—बैंक की स्थिति क्या है, यह तो मैं आज भी ठीक से नहीं जानता। अस्पष्ट खयाल जरूर है। नई बैंकों के प्रति मेरे मन में अरुचि और अविश्वास है। इसलिए जल्दी से उनमें पैसा रखने के लिए मैं तैयार होता ही नहीं। फिर सवाल यह पैदा हुआ कि.... बैंक में नहीं रखते तो नागपुर बैंक में क्यों? अपेक्षाकृत वह भी नई ही कहलायेगी न? यह भी एक प्रकार से सच ही है और भारतन ने साथ ही यह भी कहा कि नागपुर बैंक के तो एक-दो महीने में ही वन्द होने की वात सुनी जा रही है। कारण कि उसे नुकसान हुआ है और लोगों के पैसे डूवने का अन्देशा है, इसलिए पहले से ही क्यों न निपटा लें। मैंने यह वात नहीं मानी और मन में दृढ़ रहा। पर इस अफवाह का मूल जानने की इच्छा हुई। उस समय राधाकृष्ण पास था। उससे मैंने पूछा। उसने मुझे समझाया। मुझे धीरज आई और मैंने भारतन से कहा कि पैसे नागपुर बैंक में ही रखने हैं। फिर भी मुझे लगा कि तुमको यह वात वतानी चाहिए इसलिए यह पत्र लिखा है। तुम विचार करना और सावधान रहना। जमनालाल का वारिस होना कोई ऐसी-वैसी वात नहीं है। तुम उनके पुत्र के तौर से वारिस हो। मै उनके दत्तक यानी माने हुए पिता के रूप में वारिस हूं। मेरा स्वार्थ, उनका नाम अखंडित रहे, इसमें है। उनका उठाया हुआ काम किसी प्रकार चलता रहे, इतना ही नहीं, परन्तु अधिक शोभित हो तभी तुम और मैं उनके सच्चे वारिस माने जायंगे।

तुम पैसे कमाओगे और वड़े सेठ माने जाओगे, यह सम्भव है। परन्तु उनके

उत्तर जीवन के पारमार्थिक काम का क्या होगा, उत्तर जीवन में खोली गई बैंक का क्या होगा? गरीव गाय का क्या, खादी का क्या, ग्रामोद्योग का क्या? उनकी इच्छा से मैं वर्धा में आकर वसा हूं ना--वह भी सरदार का मीठा क्रोध सह कर। वह मुझे एक ही जगह दस वगीचे विना परिश्रम के दिला सकते थे। लेकिन वह जमनालाल नहीं दिला सकते थे। इसलिए मैंने दस वगीचे छोड़ दिये। परन्तु अव मैं जमनालाल को खो वैठा हूं, ऐसा जरा भी आभास अपने मन में नहीं होने देना चाहता। उसकी कुंजी तुम्हारे हाथ में है, राधाकृष्ण के हाथ में है, और जानकीदेवी के हाथ में है। जानकीदेवी तो निरक्षर हैं। और उससे जिस विकास की मैंने आशा रखी थी वह तो जमनालाल के जाने के वाद सूख ही गई। इस कारण बैंक के सम्वन्ध में मैं उसे समझा भी नहीं सकता। समझाने की जरा कोशिश भी नहीं की। राधाकृष्ण वहुत चतुर है। वह गुना है, परन्तु पढ़ा-लिखा तो नहीं ही कहलाएगा न? तुम तो विलायत हो आये हो। व्यापारी के रूप में थोड़ा नाम भी कमाया है। तुम्हारे अन्दर आत्मविश्वास तो आवश्यकता से अधिक है। जो भी हो, वारिस के तौर पर और गद्दी-नशीन होने की हैसियत से तो मुझे तुम्हारी ओर ही देखना होगा। इसलिए कहता हूं कि तुम अपने पिता का नाम परोपकारी के रूप में उज्ज्वल करने के लिए मर मिटना। ऐसा करने की शक्ति तुम अपने में न समझते हो तो नम्रतापूर्वक मुझे चेतावनी दे देना। सव लड़के अपने परोपकारी पिता के पीछे-पीछे भला कहां चल सकते या चलते भी हैं? इस कारण तुम यह न करो तो कोई तुम्हारी ओर उंगली नहीं उठा सकता। फिर मैं तो उंगली उठानेवाला कौन होता हूं? परन्तु दादा की हैसियत से तुझे सलाह तो दूं, चेतावनी तो दूं। फिर तुम जो कुछ करोगे उसे चुपचाप स्वीकार कर लूंगा। इसमें तो मैंने तुमको वहुत कुछ लिख दिया है। उसपर पुख्ता विचार करना। और नागपुर के बैंक के सम्वन्ध में मैंने भारतन को जो सलाह दी है वह ठीक है या नहीं, इसका जवाव मुझे पहुंचा ही देना।

वापू के आशीर्वाद

विनोबा

की प्रज्ञा स्थिर है, काया चंचल,
हमारी काया स्थिर है, प्रज्ञा चंचल।

उनके आराम में साधना है
हमारी साधना में आराम है।

बचपन में मां के साथ हम सब भाई-बहन साबरमती आश्रम में रहते थे। काकाजी सार्वजनिक कामों के कारण ज्यादातर दौरे पर ही रहते थे। पर आश्रम-वास की तीव्र इच्छा के कारण वह अक्सर आश्रम में आते-जाते रहते। जहां तक मेरा प्रश्न है, मुझे साबरमती आश्रम के वातावरण से पूरा संतोष नहीं था। पू० विनोबाजी का आश्रम वर्धा में चलता था। उनके व्यक्तित्व का मुझपर गहरा असर था और वहां के वातावरण को मैं आश्रम के अनुकूल मानता था। यद्यपि वहां के नियम, साधना, उपासना और दिनचर्या अधिक कड़क थे तथापि उसकी ओर मेरा विशेष आकर्षण रहा।

●

मेरा शिक्षण

यात्रा से लौटने पर काकाजी बच्चों से मिलते-जुलते और बातचीत भी किया करते। ऐसी ही बातचीत के समय मैंने एक दिन अपने ये विचार उनके सामने रखे। उन्होंने बापूजी से इसकी चर्चा की। बापू ने मुझे बुलाया और पूछा कि साबरमती आश्रम में तुम्हें क्या कमी मालूम होती है। मैंने कहा,

"यहां का वातावरण अच्छा है। हम बच्चों की दिनचर्या भी विशेष कड़ी नहीं है, लेकिन मुझे यह आश्रम जैसा नहीं लगता, क्योंकि अधिकांश लोग अपने परिवारों के साथ ही यहां रहते हैं। आश्रम के लिए जैसा वातावरण चाहिए वह पूरा मुझे यहां नहीं दिखाई देता। इसके अलावा, विनोबा के प्रति मेरी विशेष श्रद्धा है, यदि उनके पास मुझे रखने की व्यवस्था हो सके तो मुझे अधिक प्रसन्नता होगी।"

बापू ने कहा, "विनोबा के आश्रम में तुम्हारी उम्र का कोई बच्चा नहीं है, वहां सब काम अपने हाथों करने पड़ते हैं, वहां के नियम विशेष कड़क हैं, क्या तुम वहां रह सकोगे?"

मैंने कहा, "मेरी इच्छा तो है, लेकिन कहां तक निभा पाऊंगा इसका मुझे अंदाजा नहीं है। विनोबाजी से बात करने पर यदि वह कुछ-सहूलियतें मुझे दे सकें तो शायद मैं वहां रह सकूं। ऐसा मौका देने में कुछ बिगड़ेगा तो नहीं!"

बापू और काकाजी के सामने जटिल समस्या खड़ी हो गई। कई कारणों से विनोबाजी के आश्रम में मेरा उस अवस्था में रहना उन्हें ठीक अथवा व्यावहारिक नहीं लग रहा था। करीब-करीब जितनी राष्ट्रीय शिक्षण संस्थाएं भारत में थीं, सभी के बारे में उन्होंने विचार किया—जैसे, स्वामी श्रद्धानन्दजी का गुरुकुल कांगड़ी, आचार्य नानाभाई भट्ट का दक्षिणामूर्ति और रवीन्द्रनाथ टैगोर का शांति-निकेतन। महाराष्ट्र में भी जो दो-एक राष्ट्रीय विद्यालय थे, उनका भी जिक्र आया। इनमें से कई संस्थाएं कुछ कारणों से खुद उन्हें मेरे लिए ठीक नहीं लगीं। अन्ततः श्री गोपालराव कुलकर्णी के साथ मुझे दक्षिणामूर्ति देखने के लिए भेजा गया। गुरुकुल कांगड़ी का भी मुझे खयाल था। और भी एक-दो राष्ट्रीय सस्थाएं मुझे दिखाई गईं। लेकिन मेरा आग्रह विनोबाजी के पास ही जाने का रहा।

काकाजी मुझे लेकर वर्धा आये। हमारे पुराने घर बच्छराज-भवन में ही विनोबाजी आये और वहीं उनसे बातचीत हुई। काकाजी ने उनको मेरी इच्छा से और जो कुछ बातें हुई थीं उनसे अवगत कराया। विनोबाजी के सामने कई कठिनाइयां थीं। सबसे बड़ी कठिनाई तो यह थी कि मेरी उम्र के बच्चे वहां कोई थे ही नहीं। फिर भी मेरे आग्रह को देखकर मुझे आश्रम में रखने के लिए वह तैयार हो गए।

उस समय मैंने उनसे कहा कि आपके आश्रम की और सब बातें तो मुझे अच्छी लगती हैं, लेकिन भंगी का काम जो आपके यहाँ सब आश्रमवासी स्वयं करते हैं, उसके प्रति मुझे घृणा है और साथ ही वह हमारे धर्म के विरुद्ध भी है। मेरे ताऊजी के लड़के भाया (राधाकृष्णजी) वहीं आश्रम में रहते थे। वह भी भंगी का काम नहीं करेंगे, ऐसी कल्पना व चर्चा पहले हुआ करती थी, लेकिन वह यह काम करने लग गए थें। मेरे दादाजी और दादीजी को इस बात का बड़ा खेद रहता था। परम्परागत संस्कार और घर में इस तरह की चर्चा बहुधा होती रहने के कारण मेरे मन पर इसका गहरा असर था। विनोबा ने कहा, "आश्रम में कोई भी काम जबरदस्ता से नहीं कराया जाता। तुम्हारी इच्छा न हो तो वह काम न करना, इसमें मुझे कोई उज्र नहीं होगा।"

मैंने कहा, "मेरे लिए इतना ही काफी नहीं है। मैं चाहता हूं कि आप मुझे यह आश्वासन दें कि यह कार्य मुझसे नहीं कराया जायगा। इतना ही नहीं, इस काम के बारे में न कोई मुझे समझायेगा और न चर्चा ही करेगा।"

विनोबाजी ने उल्टा सवाल किया, "यह तुम क्यों चाहते हो? तुम्हारे पर जबरदस्ती न हो इतना ही तुम्हारे लिए काफी होना चाहिए।"

मैंने जबाव दिया, "मैं अभी बालक हूं, मेरी बुद्धि और समझ अभी कच्ची है, मेरी छोटी बुद्धि को कोई भी बदल सकता है और हो सकता है कि यह काम मैं समझाये जाने पर करन लगूं, फिर बाद में मुझे पछतावा हो। जब यह काम मैं अपने धर्म के विरुद्ध समझता हूं तो मेरे लिए पाप ही होगा। इसके प्रायश्चित्त करने की नौबत आये, ऐसी स्थिति से मैं पहले ही क्यों न बचूं! खास कर जब मैं यह जानता हूं कि भाया, जो आश्रम में रहते हैं, इस काम को नहीं करना चाहते थे, वह आपकी बातों में आकर इसे करने लग गए हैं। उनके जीवन में तो कलंक लगा, लेकिन मैं नहीं चाहता कि इस तरह का कुछ मेरे साथ भी हो। मैं आपके पास विद्याभ्यास के लिए और अपना जीवन सुधारने के लिए आना चाहता हूं।"

विनोबा ने मेरी भावनाओं का खयाल करके उदारतापूर्वक इस बात को भी मंजूर कर लिया और प्रसन्नता भी प्रकट की। मैंने साफ-साफ इस

वात को, जैसी मेरे मन में थी, प्रकट कर दिया। फिर पूछा, "वस अव तो ठीक है?"

मैंने कहा, "नहीं। अभी तो और भी वातें हैं, लेकिन वे छोटी हैं, और मुझे पता नहीं कि आश्रम में इस तरह की वातों के लिए किस हद तक छूट दी जा सकती है। लेकिन उनके विना मेरा निभाव कैसे होगा, यह मैं सोच नहीं सकता। एक तो विना शक्कर का दूध पाने की मुझे आदत नहीं है, मुझे दूध दिया जाय तो अलग से मुझे शक्कर लेने की इजाजत हो, वरना मुझे दही दे दिया जाय। दूसरे, आश्रम में सिर्फ उवाली हुई साग-सब्जी वनती है, नमक भी ऊपर से अलग दिया जाता है, वह बेस्वाद भोजन हमेशा के लिए शायद मैं न खा सकूं। साथ ही मैं यह भी नहीं चाहता कि आश्रम के नियमों का मैं विशेष भंग करूं या मेरे लिए कोई अलग प्रकार का भोजन वने। इसलिए भोजन के साथ अचार लेने की छूट मिल जाय। इससे शायद मैं आश्रम में अपना निभाव कर सकूं।"

विनोवाजी ने कहा, "ये सव शर्तें भी मुझे मंजूर है। लेकिन एक समय निर्धारित कर दिया जाय, तभी तक यह छूट रहेगी।"

मैंने कहा, "छूट तो मुझे तवतक मिलनी चाहिए जवतक मैं आश्रम में रहूं। यह दूसरी वात है कि मैं अपनी ही तरफ से ये चीज़ें लेना कम कर दूं या छोड़ दूं। लेकिन मुझ पर किसी प्रकार का प्रतिवन्ध नहीं होना चाहिए, भले ही वह समय के निर्धारित होने के सम्वन्ध में ही क्यों न हो!"

विनोवा ने प्रसन्नता के साथ इसको भी स्वीकार किया और कहा, "तुमने अपनी कमजोरियों को समझते हुए आश्रम की दृष्टि से भी सोचा, और उसमें कम-से-कम दखल देने की भावना से जो विचार प्रकट किया, वह समाधानकारक है। उससे मुझे वहुत संतोष हुआ है।"

●

१४४ जन्मजात जगतगुरु

मैंने तो विनोवा को वहुत पहले से, जव मैं शायद पांच-छः साल का ही रहा होऊंगा, दिल से गुरु मान लिया था। लेकिन अव वाकायदा गुरु-शिष्य

का सम्वन्ध जुड़ा और उसकी शुरुआत हुई। विनोवा तो जन्मजात जगत-गुरु थे ही। लेकिन मेरा शिष्य वनना अव भी वाकी है। ऐसे व्यक्ति का शिष्य होने के लिए भी पात्रता, संयम, साधना, परिश्रम—क्या नहीं चाहिए!

शायद दूसरे ही रोज मुझे आश्रम में प्रविष्ट कर लिया गया। काकाजी मुझे छोड़ने आये। जहां तक मुझे याद पड़ता है, प्रार्थना तक काकाजी भी रहे। प्रार्थना में, या हो सकता है इसी प्रसंग को लेकर सभी आश्रम-वासियों को जमा किया गया हो। उस समुदाय के समक्ष विनोवाजी ने मेरा जिक्र किया और सभी वातें वतलाते हुए मेरी तीनों शर्तों के वारे में भी स्पष्टीकरण किया।

काकाजी की मौजूदगी में ही विनोवाजी ने आश्रम के व्यवस्थापक श्री मोघे मास्टरजी के साथ मेरी दिनचर्या पहले ही तय कर ली थी। करीव तीन घंटे लिखाई-पढ़ाई के लिए दिये गए थे और तीन ही घंटे कताई-पिंजाई और इसी तरह के दूसरे कामों को सीखने के लिए दिये गए। करीव एक घंटा शुरू में निज की सफाई, जिसमें कुएं से पानी निकालना, अपने कपड़े धोना, अपनी जगह को साफ रखना, अपने वर्तन मांजना और धीरे-धीरे, झाड़-पोंछ व भंगी के काम को छोड़ कर, आश्रम के अन्य सभी कामों को सिखाने की व्यवस्था हो गई।

प्रार्थना के वाद काकाजी से छुट्टी लेने का समय आया। मैंने प्रणाम किया तो उन्होंने मुझे गले लगाकर कहा, "बेटा, तुम वड़े भाग्यशाली हो कि विनोवा जैसे गुरु तुमको मिले और उनके आश्रम में रहने की भगवान ने तुम्हें सद्‌वुद्धि दी। विनोवाजी का आदेश तो तुम मानोगे ही। इसीमें तुम्हारा सव तरह से कल्याण है।" यह भी कहा कि "अपनी मां को खवर भिजवाते रहना। मैं दुकान में कह दूंगा कि वे तुमसे पूछकर तुम्हारी मां के पास खवर भिजवाते रहेंगे। तुम्हें कोई कठिनाई मालूम हो या कोई वात न जंचे तो साफ-साफ विनोवाजी से जाकर वात कर लेना। इतने पर भी कोई दिक्कत मालूम हो तो दुकानवालों के द्वारा मुझे चिट्ठी या तार से खवर कर देना। यदि तुम चाहोगे, तो मैं जहां-कहीं भी होऊंगा वहां से तुरन्त तुम्हारे पास आ जाऊंगा।"

काकाजी चले गए। मेरे मन में एक उत्साह, एक प्रकार का आनन्द

और कुछ गर्व था कि मुझे भी विनोवाजी के आश्रम में रहने का सुअवसर प्राप्त हुआ। साथ ही कुछ इस वात का डर भी था कि मैंने इतनी वड़ी जिम्मेदारी ली है, क्या मैं इसको निभा पाऊंगा। इन्हीं विचारों में उलझा हुआ मैं अपने काम में लगा। जावन में शायद पहली वार ज़मीन पर चटाई के ऊपर कम्वल विछाकर और उसके ऊपर चादर डालकर सोने का प्रसंग हुआ। ज़मीन पर तो सावरमती आश्रम में भी सोते थे। लेकिन इसमें मुझे कोई कठिनाई नहीं महसूस हुई। मन में एक प्रकार का आनन्द ही हुआ। लालटेन की रोशनी का तो मैं आदी था, लेकिन इतने घोर अंधकार का शायद पहले कभी अंदाजा नहीं हुआ हो, ऐसा आभास हुआ। औरों ने अपनी लालटेन बुझा दी थीं, एक वड़े हाल में कुछ लोग दूर-दूर सो रहे थे। मैंने अपनी लालटेन कुछ जलती रखी। अंधेरे का तो मुझे डर नहीं था, लेकिन यह समझ में नहीं आता था कि सुवह जल्दी उठूंगा और लालटेन की जव जरूरत पड़ेगी तो कैसे जलाऊंगा। माचिस मेरे पास थी, लेकिन लालटेन मैंने कभी जलाई नहीं थी। मन में यह भी खयाल आता था कि थोड़ी-सी लालटेन जलती है इससे औरों को कष्ट तो होगा नहीं, पर कहीं आश्रम का नियम भंग तो नहीं कर रहा? पर यह सोचकर समाधान किया कि आज तो थोड़ी-सी गलती रहने दो; यदि इसमें गलती है तो कोई-न-कोई तो मुझे कहेगा ही।

दूसरे रोज उठा, सुवह की प्रार्थना में गया, हाथ-मुंह धोने के स्थान की जानकारी मुझे पहले ही करा दी गई थी। नाश्ते के वाद विनोवा ने मुझे बुलवाया और पूछा कि नींद कैसी आई? मैंने वत्ती के वारे में जो विचार आए थे, वह कह दिए। उन्होंने लालटेन लेकर आने को कहा और अपने हाथ से उसे कैसे साफ करना, कैसे तेल भरना, ऊपर से खोलकर वत्ती कैसे डालनी, वह जल जाय तो कैंची से कैसे काटनी, कांच की चिमनी को कालिख लग जाय तो कैसे साफ करना, लालटेन को किस तरह जलाना यह सव वताया। यह सारा काम मैं भी अपने हाथों से कर गया। तेल भरते समय वरावर खयाल न रखने से तेल लालटेन के भर जाने से ऊपर से वह निकला। मेरी गलती मुझे तुरन्त ध्यान में आ गई। विनोवा ने कहा—"चिंता मत करो, यह अंदाजा हो जाना चाहिए कि कितना तेल इसमें समायगा।

जितना तेल आ सकता है उससे एक तिहाई कम ही भरो तो ठीक रहेगा। इससे लालटेन के हिलने-डुलने से तेल वाहर नहीं निकलेगा और ज़लती हुई वत्ती भपकेगी नहीं।'' इस तरह मेरा आश्रम के जीवन में प्रवेश हुआ और विनोवा के द्वारा काम सीखने का मेरा पहला पाठ पूरा हुआ। आश्रम में अपने निजी काम करने में भी कितनी कठिनाई होती है और इसमें भी ज्ञान-प्राप्ति की कितनी गुंजायश रहती है, यह मैं तव जान पाया।

मैं खेल-कूद, धींगामुश्ती करने में हमशा तेज रहा। घर में मेरा उपनाम दादाजी का लाड़ से रखा हुआ 'वंड' पड़ गया था। मुझे अंदाजा नहीं था कि ये छोटे-छोटे काम भी मैं नहीं कर सकूंगा। सभी आश्रमवासियों का मुझपर अनुग्रह रहा। छोटे-मोटे सव काम वे कर भी देते थे और करते-करते सिखा भी देते थे। कई वार तो वड़ी लज्जा मालूम होती थी कि ये मामूली काम भी मुझे नहीं आते। लेकिन धीरे-धीरे अपने निजी कामों को तो मैंने सीख ही लिया, साथ ही आश्रम के दूसरे कार्य, झाड़-पोंछ, साग-सब्जी काटना, पानी भरना, ऐसे कामों की शुरुआत कर दी थी। उधर कातने, पींजने से लेकर बुनने तक की सारी क्रियाएं और चक्की चलाना, रसोई करना, ज़मीन खोदना, हल चलाना, गाय-बैलों की सफाई करना, दूध दुहना आदि सव कामों को मैं काफी अच्छी तरह करने लग गया और उनमें मुझे आनन्द भी आने लगा।

लेकिन मुश्किल तो यह थी कि पढ़ने में मेरी उतनी रुचि न हो पाई या यों कहा जाय कि मन भी उतना नहीं लगता था, जितना कि दूसरे कामों को करने में। यह भी एक वजह थी कि जिससे मेरी लिखाई-पढ़ाई न तो व्यवस्थित रूप से हो पाई और न विशेष हो ही सकी।

मारवाड़ी शिक्षा मंडल के अन्तर्गत एक हाईस्कूल चलता था, उसमें हरिजन विद्यार्थियों को भी पढ़ने का अवसर दिया जाय, यह सवाल काकाजी ने उठाया। इसपर शिक्षा मंडल में सनातनियों की तथा सुधारकों की, ऐसी दो भिन्न विचारधाराएं स्पष्ट रूप से दिखाई देने लगीं। काकाजी चाहते तो सनातनियों को अलग कर सकते थे और वाकी वहुमत से अपनी विचारधारा के अनुसार विद्यालय को चला सकते थे। लेकिन ऐसा न कर उन्होंने सनातनियों को अपनी विचारधारा के अनुसार चलाने के लिए वह विद्यालय

सिपुर्द कर दिया और अपने को व अपने साथियों को, जो 'सुधारवादी' कहलाते थे, उससे अलग कर लिया। अब यह सवाल पैदा हुआ कि विद्यालय में 'सुधारवादी' पालकों के जो बच्चे थे, वे उस विद्यालय में नहीं पढ़ सकते, तो फिर कहां पढ़ें? उनके लिए अलग विद्यालय, जहां पूरा राष्ट्रीय वातावरण हो, शुरू करने की आवश्यकता प्रतीत हुई। इसी प्रश्न को लेकर विनोबाजी व ताऊजी (जाजूजी) के साथ काकाजी की चर्चाएं हुईं और यह तय हुआ कि आश्रम के अन्तर्गत ही एक आदर्श राष्ट्रीय विद्यालय शुरू किया जाय। उसके लिए साबरमती आश्रम से कोल्हापुर के श्री कृष्णराव कुलकर्णी को, जिन्हें नाना कहा करते थे, इस विद्यालय का प्रधानाध्यापक बना कर विद्यालय शुरू किया गया। इस विद्यालय में आश्रम के कुछ लोग तथा कुछ नये लोगों को सम्मिलित करके पूरा विद्यालय बनाया गया। इस विद्यालय की कल्पना ऐसी थी कि प्रत्येक एक या दो अध्यापकों के साथ चार-छः विद्यार्थियों को लेकर एक कुटुम्ब की रचना कर दी गई। इसमें कुछ अध्यापक विवाहित थे और कुछ अविवाहित । इसी तरह के एक कुटुम्ब में मुझे भी ले लिया गया। इस विद्यालय के शुरू होने से मेरी बराबरी के या उसके आसपास की उम्रवाले विद्यार्थियों की कमी नहीं रही। सुबह-शाम आश्रम के सब लोगों की सामूहिक प्रार्थना हुआ करती थी। करीब तीन घंटे शरीर-श्रम का कार्यक्रम राष्ट्रीय विद्यालयों में अलग होता था। अपने अलग-अलग कुटुम्बों को चलाने के लिए, औसतन दो घंटे प्रतिदिन सब काम, जैस रसोई करना, अनाज पीसना, सब्जी काटना, सफाई, पानी भरना, चक्की पीसना आदि शिक्षकों और विद्यार्थियों में व्यवस्थित बंटवारे के साथ हो जाया करते थे। इसमें यह भी खयाल रहता था कि प्रत्येक विद्यार्थी को सब तरह के काम करने तो आवें ही, उनमें वह निष्णात भी हो जाय।

आश्रम के ही वातावरण में, और उसके पड़ोस में ही रहकर आश्रम-जीवन से मिलता-जुलता यह विद्यालय शुरू हुआ। आश्रम के जीवन में एक दूसरी भिन्नता इस विद्यालय के लड़कों के लिए रखी गई, वह यह कि उन्हें करीब एक घंटे तक का समय खेलों के लिए दिया गया। इसमें सिर्फ स्वदेशी खेल ही खेले जाते थे।

मैला-सफाई और सिद्धान्त

मेरे इस विद्यालय में प्रविष्ट हो जाने के वावजूद भंगी का काम करने के विरोध में जो मेरी शर्तें थीं, वे कायम थीं। विशेषकर इस काम को अध्यापक लोग ही करते और वच्चों से यह काम लिया भी नहीं जाता था, फिर भी कुछ वड़ी उम्र के अथवा हृष्ट-पुष्ट विद्यार्थी इस काम को कर भी लेते थे। कुछ ऐसे भी विद्यार्थी थे जो मेरी तरह ही इस काम को घृणास्पद या बुरा समझते थे, फिर भी उनकी शांत प्रकृति और अविकतर समाधानी वृत्ति होने के कारण उनके द्वारा भंगी के काम को न करने के वावजूद इस तरह के कौटुम्विक जीवन में किसी प्रकार का कोई क्लेश नहीं होता था। लेकिन स्वभाव से मैं अलमस्त था। मेरी वृत्ति वलवाखोर (वगावती) थी और अपनी टेक पर अड़ जाता था।

जिस कुटुम्व में मैं रहता था, उसमें दो शिक्षक थे और पांच-छः विद्यार्थी। मैला-सफाई का काम अधिकतर तो शिक्षक लोग ही किया करते थे। दूसरे विद्यार्थी उनको आवश्यकता पड़ने पर सहयोग दे देते थे। अड़चन के समय उस काम को करने में भी उज्र न करते थे। उन दिनों मेरे जिम्मे रसोई वनाने का काम था। रसोई वनाकर मैं सवको परोस देता और अपनी थाली लेकर उन सवसे अलग बैठता। हँसी-मजाक में वात चलती तो सवको ताना मार देता कि भंगियों के साथ कौन बैठे? तुम लोग तो अछूत हो। यद्यपि वे लोग अधिक संख्या में थे और मैं अकेला ही था, तथापि उनमें से कुछ विद्यार्थी चिढ़ जाते थे। इसका परिणाम यहां तक हुआ कि कुछ विद्यार्थियों ने इस काम को करने से साफ इन्कार कर दिया। उसमें कुछ तो उनका दव्वूपन था और कुछ इस काम से वच निकलने की युक्ति भी शामिल थी। यहां तक ही रहता तो शायद मामला आगे न वढ़ता, पर उनके भंगी के काम को करने से इन्कार करने के वावजूद मैं उनको अपनी जाति में, या यों कहिये कि अपनी पंक्ति में बैठाने को राजी नहीं हुआ। मेरा कहना था कि आगे इस काम को न करोगे सो तो ठीक, लेकिन पिछले पापों का भी तो प्रायश्चित्त होना चाहिए। विद्यार्थी

लोग इस काम को न करते तो इससे विशेष कुछ वनता-विगड़ता नहीं था, लेकिन मेरी दलीलों से, ताने मारने से और व्यवहार से एक ऐसा वातावरण वन रहा था जो कि एक अध्यापक को नागवार गुजरने लगा। उन्होंने दूसरे विद्यार्थियों को समझाने की वहुत कोशिश की, क्योंकि मुझसे तो वह न इस विषय में वात ही कर सकते थे और न समझा ही सकते थे। पर उनकी एक न चली।

हमारे कुटुम्व में जो अध्यापक थे उनके प्रति हम सभी को मान और आदर था। वह काफी सेवाभावी, परिश्रमी और हम विद्यार्थियों को चाहने-वाले थे, और वड़ी लगन से हमें सव वातें सिखाते भी थे। उनमें से जो वड़े थे वह मुझे अधिक पसन्द करते थे और मुझपर उनकी विशेष कृपादृष्टि भी थी। मेरी इस तरह की वगावती वृत्ति को वह मेरा एक प्रकार का नटखटपन व जिन्दादिली समझते थे। अन्य जो कोई भी काम मेरे पल्ले पड़ता था, या मेरे जिम्मे दिया जाता, उसे मैं जवावदारी के साथ वाखूवी करता था। इससे अध्यापकों का विशेष प्रेम भी मुझ पर होना स्वाभाविक था। लेकिन भंगी के कार्य को लेकर जो वातावरण वन रहा था उसके परिणाम-स्वरूप, जो दूसरे अध्यापक थे उन्हें, यद्यपि वह मुझे चाहते थे, कुछ ऐसा लगा कि जैसे उनकी इसमें हार हो रही है और मेरी जीत।

मैं स्वयं यह काम न करूं सो तो ठीक, ऊपर से दूसरों को भी इस काम के न करने के लिए भड़का दूं, यह उन्हें मेरी ज्यादती लगी। एक-दो वार कुछ सवाल-जवाव भी गरमागरमी में उनसे हो गए। एक मर्तवा वह गुस्से में आकर, इतने आपे से वाहर हो गए कि उन्होंने मुझे एक तमाचा भी जड़ दिया। मैं ऐसा कुछ कह कर कि आपने यह अच्छा नहीं किया, सीधा विनोवा के पास चला गया। विनोवाजी उस समय किसी का वर्ग ले रहे थे। वह पढ़ाने में इतने मशगूल थे कि मेरे काफी देर बैठ रहने के वावजूद मैं उनका ध्यान अपनी ओर आकृष्ट नहीं कर पाया। उनकी निजो सेवा में जो विद्यार्थी रहता था उससे मैंने जिक्र किया कि विनोवा से मुझे जरूरी व्यक्तिगत चर्चा करनी है। वह मुझे पूरी तरह से समझ नहीं पाया और उसने कह दिया कि अभी तो समय मिल नहीं सकता, तुम कल आओ। मेरे लिए विकट प्रश्न था। मैं उस समय तक उस कुटुम्व में रह

नहीं सकता था, जवतक कि मेरे सवाल का हल न हो जाय। सो एक छोटी-सी चिट्ठी लिखकर छोड़ गया कि मैं आश्रम से वाहर घर जा रहा हूं, आपसे कल मिलने आऊंगा, और मैं चला गया। वह चिट्ठी भी शायद विनोवाजी को काफी देर में मिली। मैं आश्रम को छोड़कर घर चला गया।

मेरे आश्रम छोड़ देने का समाचार दुकानवालों ने तार से काकाजी को पहुंचा दिया। उन्होंने अपना कार्यक्रम बीच में ही स्थगित कर दिया और सीधे वर्धा आये । इस बीच विनोवाजी को जाकर मैंने सव हकीकत कह दी थी। उन अध्यापक से भी विनोवाजी की चर्चा हो गई थी। फिर हम दोनों को साथ विठाकर सवाल-जवाव भी हुए। अध्यापक ने, गुस्से के कारण मुझे थप्पड़ मार दिया था, इसके लिए अफसोस जाहिर किया और कहा कि उन्हें ऐसा नहीं करना चाहिए था। विनोवा के पूछने पर मेरी लिखाई-पढ़ाई के वारे में भी कुछ असंतोष जाहिर किया। परन्तु मेरे काम से और दूसरी तरह से उन्हें काफी संतोष है, ऐसा भी कहा। कुछ मेरे गुणों के वारे में भी बोले।

मैंने कहा, "थप्पड़ मार दिया उसकी कोई वात नहीं, जो वातें गुस्से में हुईं उनका क्या विचार करना। लेकिन उसकी जो जड़ है उसका हल निकालना चाहिए। और मेरी इसमें गलती हो तो मुझे वतानी चाहिए।"

अध्यापक ने कहा, "भंगी के काम को यह स्वयं नहीं करता तो न करे, या दूसरे विद्यार्थी भी न करें, लेकिन यह दूसरे विद्यार्थियों को ताना मारकर या चिढ़ा कर अनुशासन भंग करता है, वगावत फैलाता है और वातावरण को विगाड़ता है। यदि इसका यही रुख वना रहा तो उनके लिए इस कुटुम्व को चलाना यदि असंभव नहीं तो मुश्किल अवश्य है।"

विनोवा ने मेरी तरफ देखा तो मैंने कहा—"इनका इल्जाम ठीक है। मैं लड़कों को छेड़ता हूं, ताने भी मारता हूं और चिढ़ाता भी हूं। परिणामस्वरूप लड़के भड़क भी जाते हैं। लेकिन इसमें मेरा क्या दोष है?"

विनोवा ने पूछा कि ऐसा क्यों करते हो? मैंने कहा, "जिस काम को मैं बुरा समझता हूं या जिसे अधर्म मानता हूं, उस काम को रोकने के लिए क्या मैं अपना प्रभाव न डालूं? क्या मुझे अपने विचारों को समझाने का अधिकार नहीं है?"

अध्यापक ने कहा, "समझाने की वात दूसरी है। यह अपने विचार समझाए तो मुझे उज्र नहीं होगा, लेकिन ताने मारना या चिढ़ाना ठीक नहीं।"

मैंने कहा, "वच्चों को समझाने का और क्या तरीका हो सकता है? हम वालकों की वुद्धि इतनी परिपक्व तो है नहीं, न हम इतने पढ़े-लिखे हैं। वच्चों को परस्पर समझाने का तरीका तो चिढ़ाना, ताने मारना, यही रहते आये हैं और यही रहेंगे।"

अध्यापक ने कहा कि इससे हमारे वातावरण में विघ्न पड़ता है। मैंने कहा, "यह हो सकता है। आपको भी उन्हें समझाने की पूरी छूट है। आपने इस वारे में कोशिश भी की? मुझ पर ऐसा कोई वंधन नहीं कि जिससे, जो कुछ मैंने किया, वह मुझे नहीं करना चाहिए था। अपने काम को पूरा करके, सवको परोस कर मैं अकेला अलग बैठूं तो इसमें कौन-सा अपराध है? उनके पूछने पर कि मैं सवसे अलग क्यों बैठता हूं, मेरा यह कहना कि तुम भंगी हो, अछूत हो, तुम्हारे साथ मैं नहीं बैठूंगा, इसमें मैंने क्या गलत किया। अकेला तो मैं बैठता था, वे मुझको अछूत कह सकते थे। वे मेरी वातों से, तानों से, चिढ़ जायं या भड़क जायं तो मैं क्या करूं? मैंने कोई झूठ वात कही हो तो मैं उसका जवावदार हो सकता हूं। वे भंगी का काम करें तो क्या मैं उनको भंगी न कहूं? जिस काम को मैं पाप समझता हूं उसे करनेवाले को अधर्मी नहीं कह सकता? वह काम करनेवाले उसको अच्छा समझते हैं तो वे भी कह सकते हैं कि यह अच्छा काम है, धर्म का काम है। ऐसा कहने से मैंने तो उन्हें रोका नहीं। आपने भी उन्हें समझाने का वहुत कुछ प्रयत्न किया लेकिन इसका कुछ असर नहीं हुआ। आप इससे चिढ़ गए और इसी से आपको वुरा लगा। आपको गुस्सा आने की जड़ भी यही वुरा लगना है।"

विनोवा ने सारी वातें सुनीं और एक-दो प्रश्न किये, जिनके मैंने और अध्यापक ने जवाव भी दिये। उन्होंने मुझसे पहले ही पूछ लिया था कि मैं आश्रम से क्यों चला गया था। सारी वात मैंने कह दी थी और यह भी जता दिया था कि उनसे मैं कहने आया था पर भेंट नहीं हो सकी। और चूंकि मेरा रहना मुश्किल हो गया था, इसलिए मैं चला गया था। वाकी

उन्हें कहे विना चले जाने की मेरी कोई इच्छा नहीं थी। उनके पूछने पर जब यह जानकारी उन्हें मिली कि काकाजी को भी खबर कर दी गई है और उनके आने की सूचना भी आगई है, उन्होंने मुझे जाने को कह दिया और यह भी कह दिया कि जमनालालजी आ ही रहे हैं, उनके आने के वाद ही आगे का निर्णय करेंगे, लेकिन तवतक, तुम्हारी इच्छा न हो तो दूसरी वात है, वरना यदि तुम चाहो तो घर पर रह कर आश्रम के कार्यक्रमों में भाग ले सकते हो।

मैंने खुशी से इसे स्वीकार किया और उठकर जाने लगा। अध्यापक ने मुझे जाने से रोका और विनोवा से कहा, "यह लड़का पुरुषार्थी है। इसका असर तो मुझ पर था, लेकिन इसकी बातों को सुनकर मुझपर यह असर हुआ कि सारे काम में कमजोरी हमारी रही है कि हम ऐसे वच्चों को भी इस काम के कराने में लगाते थे जो उस काम को विचार और आचार की दृष्टि से पूरी तरह समझ नहीं पाते थे। फिरभी मुझे इस विषय में सोचने का अवकाश चाहिए।"

मुझपर उनके इस तरह से कहने का गहरा असर हुआ। मैं समझता हूं कि बिनोवा को भी उनकी वात अच्छी लगी। विनोवा के साथ उन्हें चर्चा करने के लिए छोड़कर मैं चला आया। सुवह का प्रार्थना को छोड़कर आश्रम और विद्यालय के कार्यक्रम में मैं पूरा तरह भाग लेता रहा।

दो-एक दिन में काकाजी आ गए। उनकी विनोवा से चर्चा हुई। अध्यापक के साथ भी उन्होंने चर्चा की। वातचीत और सवाल-जवाव हुए। मुझे भी बुलाया गया। विनोवा ने सवका मौजूदगी में मुझसे कहा—"तुम्हारी कोई गलती मुझे नहीं प्रतात हुई। जव मेरे पास शुरू में तुमने ये वातें कहीं और अध्यापक से भी मैंने जानकारी हासिल की, उस समय मुझको लगा कि तुमको यह सव कुछ करने की जरूरत नहीं थी और तुम्हारी इसमें नादानी हो सकती है। लेकिन पिछली वार जव तुम्हारे अध्यापक के साथ सवाल-जवाव हुए उसमें से तुम्हारे दिल की भावना को मैं समझ सका। जिसको तुम अधर्म समझते हो उसको रोकने के लिए तुमने अपने स्वभाव और तरीके से, चेष्टा स्वरूप (चाहे शरारत ही क्यों न हो) जो कुछ किया वैसा करने का तुम्हें पूरा अधिकार होना चाहिए। जवतक तुम इस काम को

बुरा समझते हो, इसके खिलाफ आन्दोलन करने का अधिकार तुम्हारा है।

"हमें ऐसे बन्डखोर (बगावत करनेवाले) पैदा करने हैं। तुम्हारी बातों का अध्यापक पर भी असर पड़ा है। उन्होंने तुम्हारे सामने तो कहा ही था, बाद में भी विशेष रूप से मुझसे और जमनालालजी से भी कहा। तुमसे उनको प्रेम है। तुम्हारे कई गुणों से वह प्रभावित भी हैं।"

विनोबा ने यह भी कहा कि इसमें अध्यापक की इतनी गलती नहीं थी जितनी खुद उनकी रही। जन्मजात संस्कारों को बदलनेवाला कदम, फिर वह सुधार का ही काम क्यों न हो, उसे अच्छी तरह से समझाये बिना ऐसे लोगों में शुरू करने देने में ही कमजोरी रही है, और उसके दोषी वह स्वयं ही हैं। आगे उन्होंने कहा कि हम लोगों ने चर्चा की है और तुम चाहो तो इन्हीं अध्यापक के साथ इसी कुटुम्ब में रह सकते हो और यदि तुम किसी दूसरे कुटुम्ब में रहना पसन्द करो तो बिना किसी संकोच के ऐसी भी व्यवस्था हो सकती है। अध्यापक ने कहा, "मुझको तुम्हें अपने कुटुम्ब में ही रखने में खुशी होगी। और दूसरे भी कुटुम्ब में यदि यह रहना चाहे तो उससे भी हमारे पारस्परिक सम्बन्ध में कोई फरक नहीं आयेगा।"

मैं जानता था कि विद्यार्थियों को अनुकूलता की दृष्टि से और अन्य कारणों की वजह से भी एक से दूसर कुटुम्ब में बदल दिया जाता था। मैं दूसरे परिवार में भी जाता, उसमें भी कोई विशेष अड़चन की बात नहीं थी। लेकिन एक तो मुझे स्वयं भी इस कुटुम्ब के साथ आकर्षण था ही और अब जो घटना हो चुकी थी उसको लेकर एक बार तो उसी कुटुम्ब में ही रहना मुझे उचित प्रतीत हुआ।

जब बात खत्म हो चुकी थी, हम लोग उठने को ही थे कि काकाजी ने मुझसे दो सवाल किये। एक तो उन्होंने कहा कि तुम्हारी पढ़ाई के बारे में अध्यापकों को पूरा संतोष नहीं है। वे कहते हैं कि तुम बुद्धिमान तो हो, लेकिन पढ़ने में ध्यान नहीं लगाते। मैंने कहा कि मैं पढ़ना तो चाहता हूं लेकिन मेरा मन नहीं लगता। मुझे स्वयं असंतोष है, लेकिन पढ़ने-लिखने में मन लगाना मेरे बूते की बात नहीं जान पड़ती। विनोबा ने कहा कि जब मन लगेगा तो अपने-आप पढ़ लेगा; अभी इस बात की विशेष चिंता करने

की जरूरत नहीं। काम में मन लगता है, फिलहाल इतना ही काफी है। आगे से रोज थोड़ा अपना समय भी मुझे देने को कहा जिससे मुझे वहुत प्रसन्नता हुई। विनोवा के पास तो खाली बैठे रहना भी मुझे अच्छा लगता था। काकाजी ने कहा, "दूसरी वात यह है कि तुम वड़े हो चले, और आश्रम के नियमों से तुम रहते हो। जो वात तुम्हारी समझ में नहीं आती या बुरी लगती है उसे शांति से समझो, चर्चा करो और अपनो नादानी की चेष्टा-कुचेष्टा करना छोड़ो। उससे तुम्हें क्या लाभ?"

मैंने कहा—"आपका कहना तो ठीक है, लेकिन पूरा तरह सोचन की शक्ति जवतक परिपक्व न हो तवतक यदि शांत चित्त से विचार करने बैठें या उसका चर्चा करें तो हो सकता है कोई गलत वात भी समझ में आ जाय और उसके दुष्परिणाम भी। और वाद में उसका अफसोस भी हो, इसलिए उससे वचना हो तो उस तरह के मार्ग से जाना ही क्यों? फिर इस उम्र में ही हम वच्चे लोग नादान नहीं रहेंगे तो आगे तो कभी मौका आने का नहीं।" काकाजी ने कहा—"वात तो तू लम्बी-लम्बी करता है, समझवूझ में तो सव-कुछ तेरी टीक आता है और ऊपर से नादानी का दावा भी भरता है। ये सव शरारत की आदतें छूटेंगी नहीं तो लिखने-पढ़ने में मन भी कैसे लगेगा?" इसी तरह की वातचीत हुई। मैं फिरसे उसी परिवार में जाकर रहने लगा।

इन सारी चर्चाओं का मुझ पर वहुत गहरा प्रभाव हुआ। मैं सोचने लगा कि भंगी का काम क्या सचमुच में ही गंदा है या परम्परागत सिर्फ ऐसा मान लिया गया है? यदि गंदा है अथवा वह पापकर्म है, तो जाति के भंगी भी उसे क्यों करें? आखिर वे भी तो इंसान हैं। दूसरों से भी पाप करवाने में, उस पाप का बोझा अपने ऊपर भी पड़ता होगा, आदि विचारों की श्रृंखला मन में चालू हो गई। दूसरी तरफ मन को समाधान देने के लिए ऐसे भी विचार मन में आ जाते थे कि हम किसी पर जवरदस्ती तो करते नहीं, भंगी भी इस काम को क्यों करता है। वह बेशक न करे। करता भी है तो पैसे लेकर करता है—हो सकता है कि उसके कर्मानुसार वही काम दंड स्वरूप उसके भाग में पड़ा हो। यदि ऐसा ही है तो प्राय-श्चित्त स्वरूप उसके लिए यह काम करना कर्तव्य भी हो जाता है। इस

तरह की विचार-श्रृंखला वन जाने की वजह से एक परिणाम तो इसका यह हुआ कि जितनी गहरी घृणा इस कार्य के लिए थी वह काफी हद तक कम हो गई। और दूसरों को छेड़ने और ताने मारने का मन ही नहीं होता था। यदि वह आदत भी हो गई थी तो छूट-सी गई। यदि मसखरेपन में कुछ बोल भी दिया तो उतनी गहरी या पैनी चोट करनेवाली वात तो नहीं होती थी। रोष में जो कुछ कहा जाता था वह काफी नरम पड़ गया।

इस प्रसंग को लेकर विनोवा ने एक दिन सायंकालीन प्रार्थना में भी नाम लिये विना ऐसा कुछ कहा कि भंगी के कार्य को हम करवाते हैं, लेकिन उसे करवाने के पूर्व इसके पीछे की विचारधारा हमें पूरी तरह समझानी चाहिए। और इस कार्य को करवाने की हमें जल्दी नहीं करनी चाहिए। कुछ अरसे के वाद प्रार्थना के पश्चात ही किसी प्रवचन में विनोवा ने कहा—"गंदगा करनेवाला गंदा है या गंदगी को साफ करनेवाला?" यद्यपि उन्होंने यह वात किसी दूसरे ही संदर्भ में कही थी, पर क्योंकि मेरे दिमाग में भंगी का मसला इतना अहम हो गया था कि 'चोर की दाढ़ी में तिनका' वाली कहावत के अनुसार यह सीधी मुझपर लागू हो गई। मेरा मन मुझको कोसने लगा। हम गंदगी फैलायें, और दूसरे, दूसरे क्यों वल्कि गुरुजन ही, उसको साफ करें, यह मुझे नागवार लगने लगा। पाखाना गये विना छुटकारा नहीं था और उसको साफ करने की मानसिक तैयारी नहीं थी। कुछ परम्परागत दब्बू ख्यालात भी थे। वड़े सोच में पड़ गया। मन-ही-मन यह निश्चय किया कि हो-न-हो हमारा गंदा किया हुआ हमारे ही गुरुजन साफ करें, यह सहन नहीं किया जा सकता।

इन्हीं दिनों मारवाड़ी शिक्षा मण्डल का विद्यालय, जो काकाजी ने सनातनियों के सिपुर्द कर दिया था, वे उसे चला न सके और उन्होंने काकाजी को वह वापिस कर दिया और यह छूट भी दे दी कि हरिजनों को भी विद्यालय और छात्रावास में प्रविष्ट कर सकते हैं। इसकी वजह से आश्रम के अंतर्गत जो नया राष्ट्रीय विद्यालय प्रारम्भ हुआ था वह उसमें मिला दिया गया और उसका एक नया स्वरूप वनाकर विद्यालय चालू हुआ। वहुत से विद्यार्थी विद्यालय के छात्रावास में चले गए। कुछ ऐसे भी थे, जिनमें मैं भी एक था, जिन्होंने आश्रम में ही रहना पसंद किया। विद्यालय की कुछ

कक्षाओं में हम लोग चले जाते थे, खेल-कूद में भाग लेते थे, वाकी समय आश्रम में ही रहते थे।

अब वे अलग-अलग पारिवारिक रसोड़े तो वंद हो चुके थे। आश्रम का एक सामूहिक रसोड़ा ही रह गया था। उसीमें हम सब लोग भी काम करते थे। उसके संचालक श्री मोघे वावाजी थे। वह मेरी मानसिक प्रक्रिया से वाकिफ थे। उनसे जाकर मैंने अपनी सारी द्विविधा कही और कहा कि मुझे दांतुन काट कर लाने का काम दीजिए जिससे मेरी यह द्विविधा हल हो जाय। मैं जंगल में, आश्रम से वाहर, शौचादि से निपट भी लूंगा और दांतुन भी काट ले आऊंगा। इससे मेरी गंदगी गुरुजनों को साफ करनी पड़े, इस विपत्ति से मैं वच जाऊंगा। उन्होंने वह काम मुझे दे दिया। एक वार दांतुन लेकर मैं आ रहा था तो मेरे हाथ में लोटा देखकर विनोवा के पूछने पर मैंने कहा कि मैं दांतुन लाने गया था। उन्होंने पूछा कि लोटा साथ में क्यों, मैंने अपनी सारी मानसिक प्रक्रिया की जानकारी उन्हें दी। उन्होंने कहा कि जंगल में खुलेआम पाखाना जाना वुरा है। उस पाखाने का न तो खाद वन पाता है और हवा में गंदगी फैलती है सो अलग। मेरे यह कहने पर कि आश्रम में पाखाना जाना तो मेरे लिए संभव नहीं, उन्होंने कहा, "तुम पाखाना साफ न करो, इसलिए आश्रम में पाखाना न जाओ, इस आग्रह को रखने की जरूरत नहीं है। पर यदि तुमने अपना मन ऐसा वना लिया है और खुले मैदान में ही आश्रम के वाहर जाना चाहते हो तो साथ में एक कुदाली ले जाया करो। गड्ढा खोदकर उसमें पाखाना करके उसे मिट्टी से ढक दो, जिससे खाद भी वन जायगी और हवा में गंदगी भी नहीं होगी।"

दूसरे दिन से लोटा और कैंची के साथ एक छोटी कुदाली भी मेरे शस्त्रों में शामिल हो गई। यह सब करते हुए भी मन को चाहिए वैसा तसल्ली नहीं हुई। ऐसा लगने लगा कि मैं डरपोक हूं, जहां हिम्मत से काम लेने की जरूरत है वहां नहीं लेता। यदि भंगी का काम बुरा है तो डंके की चोट बुरा कहो, उसे छोड़ो और उसके लिए आश्रम को भी छोड़ना पड़े तो उसकी भी परवाह मत करो। और यदि वह बुरा नहीं है तो उसे करने में लज्जा कैसी? धीरे-धीरे मुझे ऐसा लगने लगा कि भंगी का काम करनेवाले उतने ही साफ-सुथरे हैं जितने कि अन्य व्यक्ति। मैला साफ करने मात्र से

कोई मैला नहीं हो जाता। गंदगी को दूर करना तो समाज की एक बड़ी सेवा है। इस तरह के काम से यदि हम घृणा करें तो व्यक्ति और समाज की किसी भी प्रकार की सेवा नहीं हो सकती।

अपने मन की कायरता का भी मुझे स्पष्ट भास होने लगा। साथ ही हम ऊंचे हैं, सवर्ण हैं, हम दूसरों से अच्छे हैं, इसमें अहंकार और दम्भ है। इसका भान आश्रम की प्रार्थना में तुलसीदासजी के 'मो सम कौन कुटिल खल कामी, जिन तन दियो ताहि विसरायो ऐसो नमक हरामीं' इस भजन को जब मैं दुहरा रहा था तो मेरे मन में स्वभावतः ही यह विचार पैदा हुआ कि तुलसीदासजी जैसे महात्मा ने एक लोकोपकारी नम्रता की वजह से अपने को ऐसा कुटिल, खल और कामी कहा। क्या सचमुच ही उनके दिल में ऐसा दर्द था और उस अनुभूति की वजह से यह उनके सहज स्वाभाविक उद्गार थे? यदि तुलसीदास सरीखे महात्माओं को भी अपने खुद के लिए इस तरह का ईमानदारी से खयाल हो सकता था तो यह सहज लगा कि हम पामरों का क्या हाल होगा, क्यों मेरे दिमाग में इस भंगी के काम को लेकर एक व्यथा और उलझन पैदा हो गई थी। उसमें भी रूढ़िगत व परम्पराओं की विकृति के कारण एक लम्बे अरसे को देखते हुए जो खराबी आ गई थी, उस सचाई के स्पष्ट दर्शन मुझे होने लगे। मेरी आत्मा ने कहा कि यह तेरा निरा दम्भ और ढकोसला है। इसे छोड़ और हिम्मत से काम ले।

यह चिंतन दो-तीन दिन तक लगातार चलता रहा। न खाने में रुचि होती न नींद ही पूरी तरह से आती और न किसी काम में मन लगता था। रोज की दिनचर्या जैसे मैं आदतन ही किये जा रहा था। विचारों में यदि किसी का खयाल आता तो सिर्फ काकाजी और विनोबा का। विनोबा तक भी मेरी शिकायत गई। उन्होंने मुझसे पूछा, पर मैंने इधर-उधर की बातों में उन्हें टाल दिया। मुझे खुद को खयाल नहीं था कि यह सब क्या हो रहा है। पर शायद उसके लक्षण लोगों को दिखाई देते थे।

मैला सफाई का काम करने में कोई बुराई नहीं है, इस विषय में छुट्टियों में जब मैं घर गया तो काकाजी ने मुझसे चर्चा की। उसका भी मेरे दिल पर असर था। उन्होंने यहां तक कहा था कि यद्यपि इस काम को

अभी तक उन्होंने किया नहीं है, फिर भी वह इसे करना चाहते हैं। जहां तक मेरा खयाल है मैला-सफाई का काम उन्होंने एक-दो वार किया भी। वह उन्होंने अपने दिल की घृणा को निकालने के लिए किया हो या इस आग्रहवश कि जव मुझे उन्होंने ऐसी सलाह दी थी तो उन्हें भी यह काम करना चाहिए। वाद में सामूहिक साफ-सफाई में काकाकजी कई वार हिस्सा लेते रहे और इसका सवाल कोई खास रह ही नहीं गया था।

जव मेरे मन में सव वातें साफ हो गईं और निश्चय हो गया कि भंगी के काम में कोई खराबी नहीं है, तभी मन को शांति मिली। मैं सीधा मोवेजी के पास गया। उनसे कहा कि मुझे भंगी का काम दीजिये। उन्हें कुछ आश्चर्य तो जरूर हुआ फिर भी वहुत नहीं, क्योंकि वह मेरी मनोदशा से परिचित थे। उन्होंने मुझसे कहा कि विनोवा से जाकर वात कर लो। मैंने कहा, "उनसे क्या वात करनी है? जव मेरा दिल साफ है तो काम करना है। शर्त तो यही थी कि मुझ पर जवरदस्ती न हो, लेकिन मैं स्वयं काम करना चाहूं तो उसमें बंधन कहां?"

आश्रम में उस समय जो भंगी का काम करनेवाली टोली थी उसमें उन्होंने मुझे भी शामिल कर दिया। कुछ हफ्तों या महीनों तक यह काम मैं करता रहा। विनोवा को इसकी कोई खवर भी न हो पाई। उनको खवर नहीं करनी ऐसा भी कोई आग्रह नहीं था। शायद लोगों ने भी ऐसा समझ लिया होगा कि विनोवा को तो खवर होगी ही। इस काम को करने से विचारों का जो द्वन्द्व एक वारगी उमड़ आया था, स्वतः ही शान्त हो गया।

इससे वहुत समाधान और सुख मिला। ऐसा लगने लगा कि जीवन में मैंने भी कुछ किया, कुछ समझा, कुछ सीखा। हो सकता है कि इसका भी कुछ दंभ और घमंड, चाहे अव्यक्त रूप में ही क्यों न हो, दवा-छिपा रहा होगा। मेरे इस काम को करने के वाद से कोई भी विद्यार्थी नहीं वचा जो इस काम को करने में हिचक करता हो। विचार और विवाद कर लेने की शक्ति मुझमें काफी थी। कुछ हद तक, जैसे नया मुसलमान जोर से अज़ान दता है, शायद उस तरह की भी प्रतिक्रिया कुछ अंशों में मेरी रही होगी। लेकिन आश्रम का वातावरण तो उसके अनुकूल था ही, परिस्थितियां

विपरीत थीं ही नहीं और मेरे चित्त में भी शान्त भाव होने की वजह से उस काम के करने के बावजूद भावनाओं में किसी प्रकार का उद्वेग, अतिरेक या जोश जैसी कोई बात रह ही नहीं गई थी।

●

विनोबा की व्याकुलता

एक बार तीसरे पहर जब मैं मैला साफ करने का काम कर रहा था, अचानक ही विनोबाजी उधर से गुजरे। उन्होंने मुझे मैला साफ करनेवाली टोली के साथ खड़ा देखा तो कुछ आश्चर्य-चकित हुए। थोड़ी देर खड़े रहे और शायद यह सोच कर कि मैं देखने गया होऊंगा, फिर से चलने लगे। कुछ देर बाद उन्होंने फिर देखा तो उन्हें लगा कि मैं मैला-सफाई कर रहा हूं। उनके आश्चर्य और दुख का ठिकाना न रहा। उन्होंने मुझे आवाज दी और इशारा किया। मैं उनके पास पहुंचा तो देखता क्या हूं कि वह पसीने से तर और बेचैन हैं। उनकी व्याकुलता और वेदना स्पष्ट दीख रही थी। मैं उनकी इतनी तीव्र व्याकुलता का कारण नहीं समझ पाया।

मेरे नज़दीक आते ही उन्होंने पूछा, "तुमसे किसने यह काम करने को कहा है?" यद्यपि वह जानते थे कि मैं आसानी से दबनेवाला लड़का नहीं हूं, फिर भी उनके मन पर इस बात की शंका और उसका दुख था कि कहीं मुझपर किसी के द्वारा ज्यादती और अन्याय तो नहीं किया गया है, क्योंकि वैसा होने से विनोबाजी का वचन-भंग होता था।

इसी विचार को लेकर उनकी सारी वेदना और व्याकुलता थी। मैंने स्थिति को समझते हुए धीरे से, परन्तु दृढ़ता के साथ कहा कि मैंने स्वयं ही बाबाजी मोघे से यह काम मांग लिया है। विनोबाजी का उससे संताप तो कुछ कम हुआ परन्तु फिर दुबारा उन्होंने पूछा कि कहीं तुम पर किसी का दबाव तो नहीं पड़ा। मेरे इन्कार करने पर उन्होंने कहा, "तुमने यह अच्छा नहीं किया कि मुझसे बिना पूछे इस काम में लग गए।" मुझसे फिर मिलने के लिए कहकर वह चले गए।

जब मैं उनसे मिला तो उन्होंने मुझे समझाने की कोशिश की। यदि

में उनसे कहता कि पाखाना-सफाई करना चाहता हूं तो वह उसके सारे पहलू समझा देते और इसके अलावा जब उनको भी पूरा संतोष हो जाता कि मेरे निश्चय में किसी व्यक्ति-विशेष या वातावरण का दबाव नहीं है तो वह खुशी से मुझको स्वीकृति देते। मैंने कहा कि मैं चाहूं तो भी यह काम न कर सकूं, ऐसी कोई शर्त मैंने स्वीकार नहीं की थी और जिस काम के लिए मेरा मन और बुद्धि स्वयं निर्णय ले सकती था, उसके लिए आपको कष्ट देना जरूरी तो दूर रहा, मैं गलत मानता हूं।

विनोबाजी ने कहा कि तुमने अपने मन के माफिक तो किया लेकिन इससे मेरे प्रति अन्याय हुआ। यद्यपि उस वक्त मैंने इस बात को मंजूर नहीं किया और समझा भी नहीं कि उनपर क्या अन्याय हुआ; लेकिन कुछ दिनों बाद मुझको लगा कि यदि उन्हें सूचना दे दी जाती तो जो वेदना और व्याकुलता उनको हुई और जिसके कारण उनका शरीर कांप गया और वह पसीने से तर हो गए थे, उसकी नौबत न आती। इसके अलावा उनको जता देने का यह भी लाभ होता कि मेरे मन में अगर कुछ कचाई होती तो वह उसको दूर कर सकते थे। संक्षेप में उनपर जो हिंसा हुई, उससे उनको बचाया जा सकता था।

●

शिक्षक का रूप

इसी विषय को लेकर एक दफा जब चर्चा हुई तो उन्होंने कहा कि हमें हर काम में से कुछ-न-कुछ सीखना चाहिए। उन्होंने पूछा कि इतने दिनों से तुम सफाई का काम कर रहे हो, उससे क्या-क्या सीखा? मैंने उत्तर दिया कि सफाई का काम मैं अच्छी तरह से पूरा कर लेता हूं; उसमें अब सीखने को रह ही क्या जाता है?

उन्होंने कहा, "ऐसी बात नहीं है। उसमें काफी सीखने को रहता है। मल की हमें पूरी जानकारी होनी चाहिए। किस तरह का मल पूरा पचा हुआ है या अपच का द्योतक है, उसके गठन, चिकनाई, गंध, रंग की जानकारी और खुराक विशेष तथा परिश्रम का मल पर असर कैसे, क्यों, कितने समय

में होता है, आदि का ज्ञान होना चाहिए। उन्होंने कहा कि रात को सोते समय प्रार्थना करके हम डायरी लिखते हैं और सारे दिन में जो कुछ किया, उसका चिंतन और मनन करके हम हिसाव लगाते हैं। दिन भर में जहां कहीं कुछ गलती हुई, वह दूसरे दिन न हो, इसका ध्यान करके हम सोते हैं। उठने पर हमारा सवसे पहला कर्तव्य शौच जाना है। शौच को देखकर पिछले दिन पेट पर किये गए अत्याचार और अन्यायों का वरावर भान हो जाना चाहिए। 'प्रभाते मल दर्शनम्' के साथ हम दिनचर्या शुरू करते हैं। उस रोज क्या खाना चाहिए यह भी निर्णय करने में सुभीता होगा। सामूहिक मल को देखकर उसमें खरावी दिखे तो आश्रम के व्यवस्थापक को उसकी सूचना देनी चाहिए।"

स्वभाव से मैं उद्दंड, मस्त और एकदम स्वतंत्र व्यक्ति रहा हूं। आसानी से मेरी गलती मुझको न तो वताई ही जा सकती है, न मैं उसको कबूल ही करता हूं। विनोवा को मुझ जैसे को हजम करने के लिए काफी सहन करना पड़ा, लेकिन जो कुछ असर उनके धीरज, प्रेम, नम्रता और दूसरे के स्वाभिमान की रक्षा की भावना के कारण मुझ पर पड़ा, उसे यदि वह अनुशासन अथवा बुद्धि के वल पर ही करना चाहते तो शायद कभी न हो पाता। उनकी इस सद्भावना, आत्मीयता का असर मुझ पर इतना गहरा हुआ कि जव मैं आश्रम छोड़ चुका तव भी मैंने यही महसूस किया मानो मैं विनोवाजी के खूंटे से वंधा हुआ उनका पालतू बैल ही होऊं, और उनसे जितना दूर जाता हूं उतनी ही रस्सी लम्बी होती चली जाती है।

अव तो इन वातों को वर्षों बीत चुके हैं। फिर भी मैं विनोवाजी के सम्वन्ध में जव कभी कुछ सोचता हूं तव मन वहुत गहराई में उतर जाता है। मैं यह महसूस करने लगता हूं कि उनका हृदय जितना वाहर से कठोर दिखाई देता है, उससे कहीं अधिक उनके अन्तर में कोमलता और मधुरता है। वह आदर्श शिक्षक हैं और विद्यार्थी की शारीरिक, मानसिक और बौद्धिक शक्तियों को ध्यान में रखकर, उसके स्वभाव और आदर्शों को समझ कर उसे अधिकतर अपने-आप सीखने और अनुभव करने का अवसर देते हैं। ऐसा आभास मात्र होता है कि जैसे उन्होंने कुछ वताया या सिखाया है। जहां शरीर काम नहीं देता, वहां कुछ ऐसी युक्ति या अटकल वता देंगे, जिससे

कम परिश्रम में अधिक काम हो जाय। जहां वालक या विद्यार्थी की बुद्धि रुक गई, वहां उसको थोड़ा-सा मार्ग दिखा देंगे, जिससे वह सोचे और समझे और समझ कर आगे वढ़े।

उनकी शिक्षा विद्यार्थी को केवल साक्षर ही नहीं वनाती, वल्कि समग्र रूप से उसके सारे जीवन को समर्थ वनाने के लिए उद्यत करती है। वही शिक्षा सच्ची है जो साक्षरता के साथ-साथ जीवन को सार्थक वनाने की ओर अग्रसर होती है।

विनोवा विद्यार्थी की स्वतंत्रता और स्वाभिमान की जितनी रक्षा कर सकते हैं, उतना खयाल रखनेवाले अन्य शिक्षक मेरी नजर में नहीं आये। विद्यार्थी का मानसिक या वौद्धिक स्तर जितना होगा, उतने ही स्तर पर जाकर उसके साथ वातचीत व उसके साथ-साथ काम करते हुए वह कितनी ही जानकारी इतने स्वाभाविक और सरल ढंग से दे देते हैं कि विद्यार्थी को यह नहीं लगता कि उसको कुछ सिखाया-पढ़ाया जा रहा है। इससे उसका आत्म-विश्वास वढ़ता है और सोचने और समझने की शक्ति विकसित होती है। उनके विद्यार्थी जहां शास्त्री व पंडित हैं, वहां ऐसे विद्यार्थी भी हैं जो पढ़े-लिखे वहुत कम होते हुए भी अपने-अपने कामों में निष्णात हैं।

पढ़ाने-लिखाने की वनिस्वत विद्यार्थी किस तरह स्वयं अपने-आपको उन्नति की ओर ले जा सकते हैं, इसका वह अधिक खयाल करते हैं। जहां कहीं उसकी उन्नति के मार्ग में मानसिक, बौद्धिक या अन्य किसी प्रकार की वाधा आ जाती है, वह निमित्त मात्र वन कर उसका सरल तथा स्वाभाविक रास्ता वता देते हैं। उसी स्थिति को ध्यान में रखकर उचित कहानी या दृष्टांत देकर इस तरह से समझा देते हैं, जिससे जो वात उनको कहनी होती है, वह बुद्धिगम्य ही नहीं, सीधी हृदय में भी प्रवेश कर जाती है। वह आदर्श गुरु हैं। एक वालक को भी पढ़ाते समय वह एकाग्रचित्त पढ़ाते हैं और पढ़ाने की प्रक्रिया को यज्ञरूप समझते हैं। वालक में जो गुण देखते हैं, उनकी पूरी रक्षा करते हुए उससे स्वयं भी काफी सीख लेते हैं। उन्हें विनोद में मैं कह भी दिया करता था कि "आप तो स्वार्थी हैं; आपने हमको दिया ही क्या; शिष्यत्व दिया और आप स्वयं गुरु वन बैठे। इससे तो

हम भले कि आपको गुरुत्व दिया और स्वयं शिष्य ही रह गए। कहिये, किसने अधिक दिया?"

यद्यपि यह विनोद होता था, फिर भी मेरा मानना है कि सचमुच अपने किसी भी शिष्य को शायद उन्होंने इतना नहीं दिया जितना कि उस शिष्य से उन्होंने पाया। हर घड़ी वह कोई-न-कोई नई बात सीखते ही रहते हैं। जो लोग उन्हें किसी भी कार्य को करते देखते हैं या उनके निकट सम्पर्क में आते हैं, वे इस प्रभाव की अनुभूति किये बिना नहीं रह सकते, क्योंकि उनका सारा जीवन हर घड़ी सारी मानवता के लिए यज्ञ-स्वरूप है। वह बालक में गुरु देखते हैं और गुरु होकर बालक-सरीखे रहते हैं। यही कारण है कि छोटे-बड़े सभी पुरुष—दलित, पीड़ित, दुखी, बीमार, रोगी, संतप्त, त्यागी, भोगी जब उनसे सम्पर्क स्थापित करते हैं तो किसी प्रकार का भेद नहीं रख सकते।

विनोबा अपने-आपको, जिसको गुरु की जरूरत हो तो गुरु के रूप में, माता की जरूरत हो तो माता के रूप में, पिता की जरूरत हो तो पिता के रूप में, भाई की जरूरत हो तो भाई के रूप में और पुत्र की जरूरत हो तो पुत्र के रूप में व्यक्त करते हैं। ऐसी-ऐसी माताएं आती हैं जिनसे विनोबा पुत्र के रूप में मिलते हैं तो वे माताएं भी विनोबा को प्रणाम करती हैं। इस तरह के दृश्य कई बार बहुत ही मनोहर और हृदयस्पर्शी होते हैं।

विनोबा का हृदय दर्पण के समान है। उनके सामने बैठे व्यक्ति के दुख-दर्द की अनुभूति हम पर उस पीड़ित व्यक्ति के सीधे सम्पर्क से उतनी अच्छी तरह नहीं होती जितनी कि विनोबा के चित्त पर उसकी वास्तविक छाप को देखकर महसूस होती है। लोग जहां स्वयं अपने सुख-दुख को प्रकट करने में असमर्थ हैं, वहां उसका सुख-दुख उतनी ही तीव्रता के साथ स्वाभाविक तौर से विनोबा में प्रकट होता है।

समवेदना और आत्मीयता की यह शक्ति विनोबा में ओतप्रोत है, यही वह शक्ति है, जो उन्हें मानव-कल्याण की ओर दृढ़ता के साथ खींचती ले जा रही है। इसी अगाध मानव-प्रेम के कारण हमारे देश के दुखी, दलित और दारिद्रय-ग्रस्त मानव-समुदाय की आन्तरिक वेदना को महसूस करने पर विनोबा को स्वाभाविक रूप से भूदान-यज्ञ उसके इलाज-स्वरूप

सूझा। जो स्वयं का गुरु नहीं वन सका वह किसी का गुरु नहीं हो सकता। जो खुद का गुरु हो गया, वह जगत-गुरु है। जो शुरू से ही अपने-आपके गुरु रहे, एक वालक के गुरु हुए, वही विनोवा भूदान-यज्ञ को लेकर आज सारे मानव-समुदाय के गुरु वन गए हैं। ऐसे गुरु को कोटिशः प्रणाम करके हम अपने-आपको धन्य करते हैं।

●

मैला-कमाना

शुरू में वापूजी वर्धा के सत्याग्रह आश्रम में रहते थे। सन १९३३ में करीव एक महीना यहीं रहकर वापूजी ने अखिल भारत की हरिजन-यात्रा का श्रीगणेश किया था। अत्यन्त गहरी हार्दिक उदारता से आवाल-वृद्ध और गरीव-अमीर सभी के आगे हाथ फैला-फैला कर एक-एक पैसा जमाकर उन्होंने हरिजन सहायतार्थ फंड एकत्र किया। समूचे भारत में करीव ९ महीने उनकी यह यात्रा चली थी। उसके वाद वापूजी मगनवाड़ी में रहने लगे। वहीं से हरिजन-सेवा और सफाई के विविध प्रयोग और कार्यक्रम शुरू हुए। उत्तर भारत में मैला-सफाई के काम को मेहतर अर्थात 'महत्तर' लोग 'मैला कमाना' कहते हैं।

सन १९३४ में मगनवाड़ी में रहते हुए वापू के निजी सचिव श्री महादेवभाई देसाई सुवह के जलपान के वाद अपने चंद साथी और कुछ वाल-गोपालों के साथ हाथ में वाल्टी और फावड़ा लेकर जव रामनगर की सड़कों पर से मैला उठा-उठाकर मगनवाड़ी के वाग-वगीचे व खेतों में लाकर मिट्टी के नीचे गाड़ देते थे और उसका सुनहरी खाद वनने देते थे, तव पहली वार इस 'मैला कमाने' की कहावत का असली रहस्य समझ में आया।

उसके वाद, शायद सन १९३७ में वापू सेवाग्राम रहने चले गए। वहां अन्य सव साथियों के रहने की सुविधा तव नहीं थी। इसलिए महादेवभाई आदि मगनवाड़ी में ही रहे। मगनवाड़ी वर्धा स्टेशन से पश्चिम-दक्षिण में करीव एक मील की दूरी पर है जवकि सेवाग्राम वर्धा से पूर्वोत्तर में करीव ४॥ मील की दूरी पर एक देहात है। शुरू में महादेवभाई रहते मगनवाड़ी में

थे और प्रतिदिन सूर्यास्त के साथ पैदल सेवाग्राम जाते, दिन भर वहां काम करके शाम को सूर्योदय के साथ मगनवाड़ी लौट आते। तीनों लोक। को ज्ञान, आरोग्य और आनन्द प्रदान करनेवाले सूर्यनारायण के दिन-क्रम की तरह महादेवभाई का यह पद-क्रम काफी अरसे तक नियमित चलता रहा था।

वर्धा से नागपुर जाते हुए रास्ते में पश्चिमोत्तर दिशा में धाम नदी के किनारे पर 'पवनार' ग्राम वसा है। कहते हैं, कि प्राचीनकाल में किसी पवन राजा ने इस नगर को वसाया था। यह स्थान अब भी ऐतिहासिक महत्व का तो नज़र आता ही है। धाम नदी के उस पार ऊंचे से टीले पर एक मंदिर बना हुआ है जहां शेषशायी विष्णु भगवान की काले पत्थर की एक प्रतिमा प्रस्थापित है। श्री लक्ष्मीजी उनकी चरणसेवा में सतत विराजमान हैं। उसके आगे दूसरे एक ऊंचे टीले पर एक लाल बंगला वनवाया गया है। १९४१ के व्यक्तिगत सत्याग्रह की समाप्ति के वाद विनोवा यहां रहने लगे। तव से यह स्थान परंधाम आश्रम, पवनार, के नाम से प्रसिद्ध हो गया है। स्वावलम्बी खेती, खादी, गो-पालन और लोकनागरी-लिपि के प्रकाशन के कई प्रयोग यहां होते रहे हैं। वर्धा से पवनार आते हुए रास्ते में नालवाड़ी नामक एक हरिजनों की वस्ती वसी हुई है। विनोवा १९३३ से करीव १० साल तक वहां रहे। वर्धा जिले के गांवों की सेवा का कार्य वहां से चला। वहीं से ग्राम-सेवा-मंडल की स्थापना भी हुई। गो-सेवा, चर्मालय का संचालन हुआ। गो-सेवा संघ और सरंजाम कार्यालय संचालित होते हुए गोपुरी की नई वस्ती वस गई। महारोगी-सेवा-मंडल कायम हुआ। महारोगी जनों को सेवा-सहायतार्थ दत्तपुर नामक आदर्श-सेवा-संस्था की स्थापना और विकास भी यहीं से हुआ और १९४१ में व्यक्तिगत सत्याग्रह-आन्दोलन का शुभारंभ भी प्रथम व्यक्तिगत सत्याग्रही के नाते विनोवा ने यहीं से किया था।

•

१६६ पूजामय कार्य

नालवाड़ी में रहते हुए एक वार विनोवा का वज़न वहुत घट गया। कमजोरी ज्यादा वढ़ गई। यह जानकर वापूजीं ने उन्हें पंचगनी या किसी अन्य

पहाड़ी स्थान पर भेजने का इरादा प्रगट किया। इस पर विनोवा ने धाम नदी के तट की टेकड़ी पर जो बंगला वना है, उसीको 'हिल स्टेशन' मान कर वहीं पर रहते हुए अपना स्वास्थ्य ठीक करने का विचार वापूजी से कहा, और एक अवसर चाहा।।

इस तरह विनोवा पवनार की टेकड़ी पर वने लाल बंगले में रहने के लिए चले गए। नदी के पुल पर से आगे वढ़ते हुए उन्होंने 'संन्यस्तं मया' का तीन वार उच्चार किया, 'अन्य सव जिम्मेदारियों का विचार छोड़ा, छोड़ा, छोड़ा' और अव केवल स्वास्थ्य-साधना में ही लगना है, ऐसा दृढ़ संकल्प करके स्वास्थ्य-साधना का आरम्भ इतनी एकाग्रता से किया कि छह महीने में उनके शरीर का स्वरूप विलकुल वदल गया। अपने आहार-विहार का संतुलन ऐसे कुछ शास्त्रीय तरीके से उन्होंने किया कि नित्य का जो सर्वसामान्य दूध-दही तथा स्थानीय फल-सब्जी और मूंगफली का आहार था, उसाका प्रमाण घटा-वढ़ाकर और उसकें साथ निद्रा, व्यायाम और आराम का अजीव-सा संतुलन साधकर उन्होंने अपनी कायापलट कर ली।

विनोवा वचपन से ही गणित के आधार पर चलते रहे हैं। नहीं, उनकी सारी आध्यात्म-साधना आ.र चिंतन-मनन तक गणितमय हो रहा इतना ही है। सत्य स्वरूप ईश्वर और गणित-शास्त्र मानों उनके लिए पर्यायवाची शब्द हैं, गणित के माध्यम से आध्यात्म और विज्ञान दोनों को उन्होंने साध्य किया है। गणित के वगैर सत्य कैसा? और जो सत्य नहीं, वह गणित कैसा?

●

'भरत-राम-भेंट'

जो भी हो, स्वास्थ्य-साधना के पूर्व विनोवा का वजन करीव ९० पौंड रह गया था, जो वढ़ते-वढ़ते ६ महीने में करीव १३६ पौंड तक हो गया। देखनेवाले आश्चर्यचकित हुए। वापूजी प्रसन्न एवं चिंता-मुक्त हुए। पवनार का बंगला साधना-धाम वन गया। धाम नदी के ऊपर व उस पार होने की वजह से विनोवा उसे 'परंधाम' कहने लगे और वहां वह वरसों तक रहे। इससे

आगे वस्त्र-स्वावलम्बन और स्वावलम्बी-खेती के उनके अनेक प्रयोग वहीं होते रहे। खेतों की खुदाई करते हुए काले पत्थर की अनेक ऐतिहासिक मूर्तियां वहां धरती-माता की गोद में से प्राप्त हुई हैं, जिनमें से 'भरत-राम-भेंट' की मूर्ति का स्वयं विनोबा के हाथ लगना एक विशेष भावना-भरी घटना है।

शुरू से ही रामायण के पात्रों में से भरत-चरित्र का प्रभाव काकाजी के मन पर बहुत अधिक रहा था। १९४१ में व्यक्तिगत-सत्याग्रह के समय विनोबा और काकाजी जेल में एक साथ रहे थे। तब अपने मंदिर में भरत की मूर्ति की स्थापना हो या कहीं स्वतन्त्र रूप से भरत का मंदिर स्थापित हो, यह अपनी तीव्र इच्छा काकाजी ने इस प्रकार प्रकट की कि विनोबाजी के मन पर उसका विशेष असर हुआ। जेल से जल्दी छूटकर आते ही सीधे वह परंधाम पहुंचे और वहां अपना खुदाई का कार्य पूर्ववत् शुरू कर दिया।

एक-दो दिन में ३-४ फुट गहरी खुदाई होते ही विनोबा की कुदाली किसी भारी कड़े पत्थर से जा टकराई। सावधानी से खोदकर उसे निकालने पर देखा तो वह साक्षात 'भरत-राम-भेंट' की मूर्ति ही प्रगट हुई। यह देख विनोबा का मन गद्‌गद हो उठा। उन्होंने महसूस किया कि मानो भगवान ने स्वयं काकाजी की ही इच्छा को मूर्तिमान किया है। इस भावना से उन्होंने उस भावभरी प्रतिमा की स्थापना वहीं विद्यार्थियों के बनाये हुए एक छोटे-से हवादार गृह में करवाई। प्रतिदिन स्नानोपरान्त करीब घंटा भर तक प्रदक्षिणा-पूर्वक प्रतिमा की प्रार्थना और स्तवन स्वयं करते रहे।

परंधाम आश्रम से करीब ढाई-तीन मील पर सुरगांव नामक एक श्रद्धावान ग्रामीणों का ग्राम है। वहां भी एक छोटी-सी नदी है, मंदिर है, नामसंकीर्तन का वातावरण है। श्री नानाजी महाराज का ग्रामजनों पर प्रेमपूर्ण प्रभाव है, जो वर्धावालों को तथा दूर-दूर के देहाती जनों को भी आकर्षित करता रहा है। उन्हींके द्वारा वहीं श्रीमद्ज्ञानेश्वरी आदि ग्रन्थों का पठन-पाठन, प्रवचन आदि सदैव चलते रहे हैं और विनोबा का भी वहां वर्षों से आना-जाना रहा।

एक बार हरिजनोद्धार तथा हरिजनों की सेवा का चिंतन करते हुए

विनोवा के मन में कोई संकल्प उठा। प्रातःकालीन प्रार्थना के वाद स्नानादि से निवृत्त होकर कंधे पर फावड़ा धर कर वह प्रतिदिन सुरगांव जाने लगे। फावड़ा वह खुद ही उठाते और किसी को उठाने भी नहीं देते थे। एक दिन मुझे भी उनके साथ जाने का मौका हुआ। विनोवा ने हाथ में फावड़ा उठाया और कंधे पर धर लिया। उसका आधा भाग पीछे पीठ की तरफ तथा आधा सामने की ओर झुका हुआ था। संभवतः वायें हाथ की मुट्ठी से उन्होंने फावड़ा थामा और वह कुछ चिंतन करते व मुख से मंत्रादि गुनगुनाते हुए चल पड़े। उनके साथ दूसरे दो-एक विद्यार्थी थे।

सुवह का सुहावना समय था। हमारे वायीं ओर धाम नदी का स्वच्छ सुन्दर जल-प्रवाह फैला हुआ था। हम हरे-भरे निर्जन खेतों में से होते हुए सुरगांव की ओर चले जा रहे थे। रास्ते में विनोवा ने कुछ वृक्षों और पक्षियों के रूप-गुण और स्वभाव का वर्णन किया। एक पेड़ पर किसी विशेष पक्षी का घोंसला था। उसकी आवाज़ वड़ी सुरीली थी। सुनने में ऐसा लगता था मानो वह वड़ी लगन के साथ 'ठाकुरजी, ठाकुरजी' कहकर प्रतिदिन नियमित रूप से पुकारा करता है। उसकी आवाज़ की ध्वनि को विनोवा ने ग्रहण कर लिया। एक निश्चित स्थान पर पहुंच कर वह उस पक्षी की आवाज़ सुनते और उसी तरह की ध्वनि में उसे चलते-चलते जवाव देते, यह क्रम कुछ देर तक प्रायः रोजाना ही चलता। इससे दोनों में परस्पर गहरा आत्म-सम्वन्ध स्थापित हो गया था। वह पक्षी प्रतिदिन नियमितता से किस प्रकार अपना काम करता है, उसकी सुरीली मधुर आवाज़ सुनकर विनोवाजी को कितनी प्रसन्नता होती है और वह हमारा मानो एक सच्चा साथी ही वन गया है, यह सव विनोवा ने हमें वताया।

बीच-बीच में वह मुक्त-मन और प्रसन्न-चित्त से संतों के मधुर अभंग और भजन भी गाते जा रहे थे। उनकी चाल तेज थी। स्वर मुग्ध करनेवाला था। अपने गाने में वह स्वयं भी मग्न तो हो ही जाते थे, पर एक प्रकार की मस्ती का भाव भी उनमें भर जाता था। छोटे-वड़े किसी भी कार्य को वह करते हैं तो तन-मन की एकाग्रता से इसी तरह मस्त होकर करने की आदत उन्होंने डाल ली है। जिस तरह से कहीं पूजा या प्रार्थना की जाती है उसी

भावना से उनके सारे कार्य अत्यन्त स्वाभाविक श्रद्धा भरे भावों से युक्त हुआ करते हैं। विनोवा का हरेक कार्य पूजामय है।

प्रतिदिन सुवह, सामाजिक प्रायश्चित्त की भावना से, फावड़ा लेकर सुरगांव जाना, माता के समान निष्काम भावना से गांव का मैला उठाना, उसे वड़ी सावधानी के साथ खाद वनने के लिए खेतों में गाड़ना, श्रद्धावान जिज्ञासुओं की शंकाओं का समाधान करना और गांव का 'भंगी' कहलाने में गौरव का अनुभव करना, परंधाम लौटकर आने के वाद स्नान करके भरत-राम मंदिर में प्रदक्षिणा करते हुए करीव एक घंटे तक उच्च स्वर से मंत्र-पाठ तथा सुमधुर अभंग और भजनों से भगवान का भजन करना, विनोवाजी का यह कार्यक्रम सूर्यनारायण की गति अनुसार वर्षों तक अखंड रूप से चलता रहा था।

विनोवा के साथ सुरगांव जाते हुए रास्ते में उनके किसी अभंग या भजन के पूरा होने पर वीच में मुझे कुछ मौका मिलता तो मैं उनसे एकाध प्रश्न पूछ लेता था। इसी तरह मैंने उनसे एक मामूली-सा यह प्रश्न पूछा था कि "आप सफाई के लिए रोज़ नियमित रूप से परंधाम से सुरगांव आते ही हैं तो इतनी दूर से अपने साथ रोज़ फावड़ा क्यों लाते-ले जाते हैं? इसी गांव में किसी के यहां रख दिया जाय तो यहां सफाई के समय काम में लिया जा सकता है और लाने-ले जाने की रोज़ की मेहनत वचाई जा सकती है।"

वह वोले, "पहले मैं ऐसा ही किया करता था पर अनुभव से जान लिया कि यह गलत काम था। जव हम फावड़ा गांव में किसी के यहां छोड़ देते हैं तो दूसरे दिन उसके यहां से लेकर आने तक अपना काम चालू नहीं कर पाते, जवकि मैला तो गांव में प्रवेश करते ही शुरू हो जाता है। इसलिए जिस काम के लिए मैं यहां आता हूं उसका औजार भी मेरे साथ ही रहना चाहिए। फावड़ा साथ में रहने से गांव में जाते हुए और वहां से लौटते समय तक मैं सफाई करता रह सकता हूं। इससे समय की वचत तो होती ही है, पर इससे भी अधिक महत्व की असली वात तो यह है कि जिस तरह से एक सिपाही किसी मोर्चे पर जाते हुए अपनी तलवार या बंदूक अपने साथ लेकर ही चलता है उसी तरह

एक 'सफैया' को भी अपने औजार सदा अपने साथ लेकर ही चलना चाहिए। फिर जिस प्रकार सिपाही को अपने हथियारों से ममता हो जाती है, उसी प्रकार हमारा भी अपने साधनों से मोह होने लग जाता है.। उसे लेकर चलने में एक प्रकार का आनंद और शान महसूस होती है। सही वात तो यह है कि जिस तरह एक सिपाही कभी यह नहीं कह सकता कि मेरे पास हथियार नहीं हैं, मैं अभी लड़ने को तैयार नहीं हूं, उसी तरह एक 'सफैया' भी अपने काम पर जाता है तो उसे अपने हथियारों से सुसज्जित होकर ही जाना आवश्यक है।'' जैसे सिपाही अपना हथियार दूसरे को नहीं उठाने देता वैसे ही विनोवा भी अपना फावड़ा या अन्य औजार अपने विद्यार्थी या किसी अन्य साथी को नहीं उठाने देते थे।

विविध कर्म करते हुए ज्ञान प्राप्त करने का शुरू से ही विनोवा का एक अनुपम तरीका रहा है। चलते-फिरते, खाते-पीते और खेती, खादी के अनेक प्रयोग करते हुए उनका सारा व्यवहार और वातचीत मानो 'ज्ञान-गंगा' का गहन गंभीर पावन प्रवाह ही वहता रहता है। उसमें से जिसकी जितनी पात्रता है उतना ज्ञान वह अपने पात्र में भर ले। उनके ज्ञान का प्रवाह गंगा के प्रवाह के समान ही प्रवाहित है, निरंतर और निश्चित। हमारे पास लोटा है तो लोटा भर, वाल्टी है तो वाल्टी भर अपने-अपने पात्र के अनुसार हम गंगा-जल लेते हैं। इस चलती-फिरती ज्ञान-गंगा में से भी जिसको जितनी पात्रता होती है उतना वह ज्ञान ले लेता है। किसी के लिए कोई रोक-टोक नहीं—किसी प्रकार का बंधन या उस ज्ञान को प्राप्त करने की कोई शर्त नहीं। जैसे वरसात सव जगह एक सी वरसती है; वह कांटे के झाड़ पर कम वरसूं और फलों के झाड़ पर अधिक वरसूं, ऐसा करके नहीं करती, और धूप भी सवको समान रूप से ताप और तोष देती है, वैसे ही धूप और वरसात की तरह मानव-कल्याण के लिए तपता और वरसता हुआ यह ज्ञान आज भी नित्य-निरंतर सारे देश में फैलता जा रहा है। विनोवाजी की पद-यात्रा का प्रवाह देश की सभी दिशाओं में अवाधित रूप से वहता ही जा रहा है।

●

विश्लेषक एवं शब्द-शिल्पी

शिक्षा के संबंध में वात करते हुए विनोवा ने एक वार कहा, "आजकल जैसी पढ़ाई हो रही है, वह अक्षर-ज्ञान का विस्तृत रूप 'साक्षरता' मात्र है। परतु जीवन में उपासना, साधना, परिश्रम और चिंतन के द्वारा जो ज्ञानोपार्जन होता है, वह केवल 'साक्षरता' नहीं होती, वल्कि वह जोवन की 'सार्थकता' होती है। वैसी शिक्षा से जीवन समृद्ध और परिपूर्ण वनता है।

इसी प्रकार दूसरे प्रसंग पर 'साम्यवाद' की विवेचना करते हुए कहा कि यह शब्द पश्चिम की देन है, हमारी भारतीय मनोभूमिका के अनुकूल नहीं है। 'साम्यवाद' में 'अपहरण' द्वारा समाज की आर्थिक विषमता को दूर करने की परंपरा डाली गई है। इसे 'साम्ययोग' कहना ज्यादा सही होगा। साम्यवाद ने दूसरे का अपहरण करने की प्रक्रिया है, जव कि साम्ययोग में अपरिग्रह की स्वतः त्याग करने की मनोवृत्ति है। पहले में हिंसा का तो दूसरे में अहिंसा का प्रादुर्भाव होता है।

शब्दों के प्रयोग में विनोवाजी वड़े सिद्धहस्त हैं। वह इतने प्रभावकारा शब्द चुनते हैं और उन्हें इतने उपयुक्त ढंग से इस्तेमाल करते हैं कि विषय के सव पहलुओं पर प्रकाश पड़ जाता है और उनकी मौलिकता से लोग चमत्कृत हो जाते हैं।

सन १९२७-२८ को वात है, उस समय मेरी उम्र करीव १२-१३ साल की होगी। विनोवाजी वुनाई करते-करते मुझे पढ़ा रहे थे। मुख्य विषय था—'वंदेमातरम्'। उसका भाव वह मुझे समझा रहे थे। समझाते-समझाते उन्हें कुछ खयाल आया और कहने लगे कि 'चित्रमय रामायण' तथा 'चित्रमय वन्देमातरम्' ऐसे दो प्रकाशन कहीं से (प्रकाशक का नाम उन्होंने वताया था) प्रकाशित हुए हैं। उनकी प्रतियां जमनालालजी के पास आई हुई हैं। उन्हें तुम मंगवा लो। उससे 'वंदेमातरम्' का अर्थ व सार समझने में तुम्हें सुगमता होगी। तभी उन्होंने पूछा, "चित्र का क्या अर्थ है, जानते हो?" मेरे जवाव की राह न देखकर स्वयं ही उसकी व्युत्पत्ति करते हुए बोले, 'चित्र' शब्द दो पदों को मिलकर वना है। 'चित+र' अर्थात चित्त में जो रमे

सो 'चित्र'। चित्र का चित्त से भी कुछ सम्वन्ध है। इस तरफ साधातरणया लोगों का खयाल ही नहीं जाता। मुझे तो विलकुल ही खयाल नहीं था। यह स्पष्टीकरण मेरे चित्त में रम गया। इससे चित्त को विशेष प्रसन्नता हुई। इस तरह से शब्द की व्युत्पत्ति करके उसका मूल अर्थ समझा देने से वह फिर भुलाया भी नहीं जा सकता, वल्कि दिल और दिमाग पर सदा के लिए उसकी एक अमिट छाप रह जाती है।

ऐसे ही एक वार भूगोल के विषय में चर्चा चल रही थी। तव नदियों की महत्ता वताते हुए विनोवा ने समझाया कि मानव-समाज के जीवन और संस्कारों पर नदियों का कितना गहरा असर है। बोले, "प्राचीन काल में साधारणतया जो वड़ी-वड़ी नदियां होती थीं वे मानव समुदाय के पारस्परिक संबंधों के बीच वड़ी वाधाएं वन जाती थीं। उनकी वजह से आवागमन सीमित हो जाता था। मानव-स्वभाव, सभ्यता, संस्कृति और भाषा पर भी उसका असर पड़ा था। उस समय अधिकतर जो युद्ध हुए, वे प्रायः नदियों की सीमाओं को तोड़कर ही होते रहे। इसी तरह भाषाओं और संस्कृतियों का भी जो पोषण हुआ उसमें भौगोलिक दृष्टि से पहाड़ों और नदियों ने स्वाभाविक सीमा बांध दी थी।"

इसी सिलसिले में 'अनुकूल' और 'प्रतिकूल' — इन दो शब्दों का विश्लेषण भी उन्होंने किया। संस्कृत में 'कूल' शब्द का अर्थ है नदी का तट या किनारा। इसलिए वड़ी नदियों के जो इस पार होते थे वे सव 'अनुकूल' यानी इस किनारे पर, इस ओर, हमारे साथ हैं, ऐसा कहा जाता था। जो लोग नदी के उस पार होते, वे 'प्रतिकूल' यानी हमसे दूर, उस किनारे पर, उस ओर, हमारे विरोधी, ऐसा समझा जाता था।

अंग्रेजी के 'रिवर' (River नदी) शब्द के वारे में भी उन्होंने वताया कि 'रिवर' शब्द से ही 'राइवल' (Rival विरोधी) शब्द वना है। जो 'रिवर' के उस पार, वह 'राइवल' यानी विरोधी। ऐसे शब्द-प्रयोगों का ही मर्म अगर पूरी गहराई से समझ लिया जाय तो हमारी नज़रों के सामने उस जमाने का एक स्पष्ट-सा चित्र ही खड़ा हो जाता है। उस समय के मान व जीवन की रचना किस प्रकार की रही होगी, इसकी कल्पना आ जाती है। और तात्कालिक मानव-समुदाय के आचार-व्यवहार का विचार हम कर सकते हैं।

इस प्रकार के कई शब्दों को उनके इतिहास और व्युत्पत्ति के साथ विनोवा समझाते, जिनका प्रभाव श्रोताओं के मन पर चित्र की तरह अमिट रह जाता है।

•

प्रेरक प्रसंग

जव काकाजी के पास से उपरोक्त दोनों प्रकाशन आ गए तव उन्हें लेकर मैं तुरन्त विनोवा के पास गया। उस समय भी वह बुनाई में दत्त-चित्त थे। मैंने दोनों चित्रावलियां उनको दीं। उन्होंने एक किताव हाथ में उठा ली, मुखपृष्ठ खोल कर उसका पहला चित्र देखा और तुरन्त ही दोनों को वन्द करके एक ओर रख दिया। फिर पूर्ववत् अपने बुनाई के कार्य में लग गए। उनके चेहरे के भाव पर से मुझे लगा कि पुस्तक के वारे में जो कल्पना उन्होंने कर रखी थी, उससे वह विलकुल भिन्न प्रकार की निकली। फिर भी मैंने उनसे कहा कि आपने ये पुस्तकें मंगवाई थीं तो इन्हें एक वार पूरी तरह से देख तो लें। मेरी इस वात पर उन्होंने अधिक ध्यान नहीं दिया, सिर्फ इतना ही वोले कि मैंने जैसा समझा था, वैसी ये नहीं हैं। और वात को टाल दिया। इसका मुझ पर कुछ ऐसा असर हुआ कि यद्यपि वे चित्र उनको अधिक वुरे शायद न भी मालूम हुए हों, फिर भी जितनी सात्विकता या निर्दोषता की कल्पना उन्होंने की होगी, अथवा चित्रों को जितना आकर्षक और भावपूर्ण सोचा होगा वैसी कोई वात उन्हें उनमें नहीं मिली। भारतमाता के एक ही चित्र को देखकर दोनों पुस्तकों को उन्होंने समझ लिया।

उन्हीं दिनों एक प्रसिद्ध चित्रकार को काकाजी ने विनोवा से मिलने के लिए भेजा। अपने साथ वह एक वालक का सुन्दर चित्र वनाकर लाये थे। मेरे वर्ग के साथ-साथ विनोवा का वुनना चालू था। मौका देखकर चित्रकार ने अपना चित्र विनोवा को देखने के लिए दिया। उन्होंने एक-दो सेकण्ड के लिए वुनना रोककर चित्र देख लिया और तुरन्त ही उसे लौटाकर वुनने में लग गए। कुछ देर वाद इतना ही बोले कि चित्र अच्छा वना है।

पर इतने से चित्रकार के चित्त को समाधान कैसे होता ? वल्कि उसे कुछ बुरा ही लगा, क्योंकि उसकी यह अपेक्षा होना स्वाभाविक था कि इतनी मेहनत करके उसने जो चित्र वनाया है उसे विनोवा खूव अच्छी तरह देखें, और अपनी कुछ पसंदगी भी जाहिर करें। उसकी इस समझ के विपरीत विनोवा ने पर्याप्त समय देकर चित्र को ध्यान से देखा तक नहीं। अपना यह असंतोष चित्रकार ने जाहिर भी किया।

तव विनोवा ने कहा कि, "चित्र में से जो प्रेरणा मिल सकती थी वह मैंने ले ली है। चित्र में वच्चे के मोहक और गुलावी गाल दर्शाये हैं और उसके चेहरे पर ऐसी प्रसन्नता है, हमें हमारे वच्चों को ऐसा वनाना है। यह भाव समझ लेने के वाद चित्र देखने में अधिक समय विताने की अपेक्षा तदनुकूल कार्य में ही मुझे विशेष रूप से लगे रहना चाहिए न! ताकि चित्र में प्रदर्शित प्रसन्नता और सौंदर्य हम समाज के अपने सजीव वालकों के चेहरों पर विकसित और प्रफुल्लित होते देख सकें। मैं ऐसे ही काम में लगा हूं।"

फिर भी कुछ अधिक जानने की इच्छा जाहिर करने पर चित्र की कतिपय त्रुटियों की ओर भी विनोवा ने ध्यान दिलाया। इसके वाद चित्रकार से उन्होंने पूछा, "आप क्या करते हैं?" चित्रकार ने कहा, "मैं चित्र ही वनाता हूं।" विनोवा ने समझाया कि आप अपने चित्रों द्वारा जो प्रेरणा दूसरों को देते हैं, उसी प्रेरणा को लेकर जीवन को विकसित करनेवाले किसी काम में आप क्यों नहीं लग जाते ? यदि आपके चित्र आपको ही प्रेरणा देने और प्रभावित करने में कामयाव नहीं होते तो दूसरों को वे क्या प्रेरणा देंगे, और कहां तक प्रभावित करेंगे ? इसलिए किसी प्राणवान प्रेरणा को लेकर आप अगर किसी एक काम में लग जायं तो आपके चित्र अधिक प्रभावशाली और प्रेरक हो सकेंगे। वालक के इस चित्र का मर्म तो यही होना चाहिए कि हम अपने वालकों को भी वैसा ही स्वस्थ, सुन्दर, प्रसन्न और गुणवान वना सकें। चित्र अगर ऐसी जीवनप्रद प्रेरणा नहीं देता तो उसे निर्जीव ही समझना चाहिए।" यह सुनते हुए चित्रकार वड़ी देर तक वहां बैठे रहे। विनोवा को एकाग्र चित्त से बुनते हुए और साथ ही मेरा वर्ग भी लेते हुए देखते रहे। बीच में कभी कोई प्रश्न भी पूछ लेते थे। विनोवा का बुनना

१७५

और मेरी पढ़ाई हो जाने के वाद जव हम सव लोग वहां से उठकर वाहर आये तो चित्रकार के चित्त में समाधान और चेहरे पर प्रसन्नता प्रतीत हो रही थी। वाद में अपने किसी मिलने-जुलने वाले सज्जन से उन्होंने कहा भी कि विनोवा के पास जाकर विना प्रभावित हुए या प्रेरणा लिये विना कोई आ ही नहीं सकता।

सन १९३०-३१ की वात होगी। एक दिन विनोवा चर्खा कातते-कातते वर्ग भी ले रहे थे। इसी बीच किसी ने डाक से आया एक लिफाफा उनके हाथ में दिया। उस लिफाफे के आकार, कागज का प्रकार और पत्र के पीछे से दिखाई देती हुई लिखावट से, मैंने जान लिया कि, यह पत्र वापू का लिखा हुआ है। विनोवा ने उसे एक वार पढ़ा और फाड़ दिया। जितने भी पत्र उनके पास आते उन्हें वह एक वार पढ़ जाते और दोपहर को दुवारा पढ़े विना सवका जवाव दे देते। आश्रम से संबंधित पत्रों को वह कार्यालय में भिजवा देते। शेष को फाड़ देते। अपने पास कुछ भी न रखते। मैं उनकी इस आदत से परिचित था। लेकिन यह पत्र तो वापू का था, और उसका जवाव देने के पूर्व ही उसे फाड़ दिया था। इससे मेरे मन में कुछ कौतूहल और शंका हुई। मैंने फाड़े हुए उस पत्र के टुकड़ों को जोड़-जोड़ कर पढ़ा। किसी संदर्भ में वापू ने विनोवा को कुछ इस प्रकार लिखा था कि, "तुम जैसी महान अन्य किसी आतमा से मेरा संपर्क नहीं हुआ।"

वापू के साधारण पत्रों को भी लोग संभाल कर रखते थे। यहां तक कि उनके हस्ताक्षर तक को मढ़वा लेते थे। लेकिन विनोवा ने वापू का लिखा हुआ यह पत्र इस तरह फाड़ दिया, इससे मुझे वहुत रोष हुआ। मैं कुछ आवेश में उनसे पूछ बैठा—"आपने पत्र को क्यों फाड़ डाला?"

उन्होंने सहज भाव से कहा—"अपने आत्मीय और गुरुजन से भी ग़फ़लत या स्नेह के कारण कुछ भूल हो गई हो तो उसको कायम रखना भी ठीक नहीं। उसमें मोह है, और हिंसा भी।"

मैंने उसी आवेश में कहा, "वापूजी ने भूल की है, यह कहनेवाले आप कौन हैं?"

उन्होंने भी उसी सहजता से जवाव दिया, "वापू को लाख लोग मिले हैं, तथा एक-से-एक महान विभूतियां और आत्माएं मिली होंगी। यदि वापू

उन्हें नहीं पहचान पाये, या पहचानकर भी लिखते समय भूल गये हों तो उससे उन लोगों की महानता कम नहीं हो जाती। हमें इतना ही समझना चाहिए कि वापू ने स्नेह या मोह के कारण मेरे प्रति काफी कुछ लिख दिया है। उसमें भूल है, उसे सहेज कर रखने की जरूरत क्या?"

मैंने दोहराया—"भूल क्यों कहते हैं? वापू ने समझ-बूझ कर ही लिखा होगा।"

विनोवा ने धीरज के साथ कहा, "मान लिया उन्होंने जो लिखा वह सत्य ही है, उससे मुझे लाभ क्या? यदि कुछ हो सकता है तो घमण्ड ही, जिससे अपना कुछ लाभ न हो, उसे रखने से मतलव?"

मैंने कहा, "वापू जैसे महापुरुष की लिखी हुई वात, फिर वह आपको ख़ुद आपके ही वारे में क्यों न हो, वह केवल आपके लिए नहीं, दुनिया के लिए है—उसे फाड़ने का आपको क्या अधिकार है!"

विनोवा ने अधिक समझाते हुए कहा—"ऐसा कहने में हमारा मोह ही है। उसमें काम की चीज़ जो स्नेह है, उतना हमने ले लिया। वाकी को नष्ट कर देने में ही लाभ है। यदि यह सच भी हो तो मेरे उस पत्र को फाड़ डालने से वह तथ्य मिट नहीं जाता। सत्य तो सत्य ही रहेगा—फाड़ने से फटेगा थोड़े ही। लेकिन यदि वह मोह है, तो उसे रखने में नुकसान ही होगा। इसलिए उसे फाड़ डालने में कोई जोखिम नहीं, न रखने से कोई लाभ।"

विनोवा की वात मेरे दिल में पैठती ही चली गई। मेरा रोष काफूर हो गया। इस घटना ने मेरे जीवन को एक मोड़ दिया। कुछ 'दुर्गुण' भी इसकी वजह से मुझमें आ गए। अच्छी-से-अच्छी चीजों और पत्र-व्यवहार के प्रति संग्रह की आदत नहीं रही। कुछ लापरवाही भी आ गई। लेकिन जीवन में एक वहुत वड़ा समाधान और संतोष इस घटना से मुझे मिला, जिसे मैं अपने जीवन की एक वड़ी कमाई मानता हूं। वड़ी-वड़ी डिग्रियां (पदवियां) हासिल की जा सकती हैं लेकिन इस तरह का ज्ञान तो देवों को भी दुर्लभ है।

गीता, ज्ञानेश्वरी, रामायण आदि ग्रन्थों में से किसी विशेष प्रश्न या विचार को लेकर विनोवा उदाहरण देते और चर्चा छिड़ जाती। जिस छंद

में मूल श्लोक हो उसी छंद में हिन्दी, मराठी या गुजराती में उसका सरल भाषान्तर अथवा भावार्थ कर देते। वह भी उनके पढ़ाने का एक तरीका था। इस प्रकार तत्काल रूपान्तर करने के बावजूद कई वार वह मूल से भी अधिक स्पष्ट और अच्छा हो जाता था। यह सब अक्सर वह कागज के टुकड़ों या पट्टी पर लिखते, और काम हो जाने पर फाड़ या मिटा देते थे।

अहिंसा के विषय को समझाते हुए मराठी में एक श्लोक उन्होंने बनाया। उसकी शब्दावली तो मुझे याद नहीं, लेकिन उसका भावार्थ मेरे दिल पर ज्यों-का-त्यों अंकित हो गया। वह कुछ ऐसा था—"पत्थर ने फूल से कहा, मैं तुझे कुचल डालूंगा।" फूल ने जवाब दिया, "मेरी सुगंध को दुनिया में फैलाने का मौका देकर मुझपर अनन्त उपकार करोगे।" पत्थर का घमंड चूर-चूर हो गया। नम्रता और दृढ़ता के साथ फूल ने दोनों तरह से जीत कर ली। कुचला जाता तो उसकी जीत थी ही, और बच गया तो, उसने किसी को दुखाए बिना, अपने शील की रक्षा की। अहिंसा का इससे अधिक सरल, सुन्दर तथा गहन विश्लेषण आज तक मेरे देखने में नहीं आया—ऐसा विश्लेषण जो सीधा मानस पर उतरता चला जाय।

लेकिन कागज के टुकड़ों को फाड़ देने से मुझे बहुत वेदना होती। अंत में जब मुझसे नहीं रहा गया तो एक दिन पूछ ही बैठा—"आप इन टुकड़ों को फाड़ क्यों देते हैं? यदि इन्हें जमा करके प्रकाशित किया जाय तो साहित्य के अलावा अनेक विद्यार्थियों को भी इनसे लाभ मिलेगा।"

उन्होंने कहा, "मनुष्य अमर नहीं है। जब वह स्वयं अमर नहीं तो किसी अमर कृति का निर्माण उससे हो ही कैसे सकता है? फिर भी यह संभव है कि जीवन की अनुभूति और विचार-मंथन के बाद ऐसी कोई कृति बन जाय जो लगभग अमरत्व को प्राप्त कर सके। लेकिन यदि वह कृति ऐसी न हो तो उसे रखने से क्या लाभ? अन्त में तो समाज अथवा काल उसे नष्ट कर ही देगा। यह कष्ट समाज या काल को क्यों दिया जाय? इसमें हिंसा है, और खुद का अपमान भी। अपमान इसलिए कि मैं तो रचना करूं और दूसरे उसे नष्ट करें। इससे तो अच्छा यही है—और इसमें हमारे स्वाभिमान की रक्षा भी होती है—कि जबतक ऐसी कोई अच्छी चीज न

वन जाय, हम स्वयं ही उसे नष्ट कर दें।" अच्छा रसोइया तो वही माना जायगा, जो अच्छी वनी रसोई को ही परोसे।

मैंने कहा, "आपने यह कैसे परख लिया कि जो कुछ लिखा गया वह इस तरह की अमर कृति नहीं है? हमें तो वे वहुत अच्छी लगती हैं। मर्म आप समझाना चाहते हैं, वह आसानी से हृदयंगम होता चला जाता है। इस तरह हजारों लोगों को इससे लाभ मिले, तो कितना अच्छा हो?"

वह वोले, "आखिर मैं जव कुछ लिखता हूं, तो जानता भी हूं कि उस चीज़ की क्या कीमत है। यदि वह अमरत्व को प्राप्त कर सकनेवाली कृति है, तो नष्ट करने से भी मिट कैसे सकती है? वह तो जमाने के साथ ही प्रवाहित होती रहेगी—मुझसे तुममें, तुमसे और किसी में, इस तरह उसका चलन होगा। उसमें सत्य है तो अमरत्व है, और अमरत्व है तो जमाने पर हमेशा असर करती रहेगी—सारे वातावरण में फैल जायगी।"

कितना सरल और कितना गहरा विचार है? दूसरों को कष्ट भी न दूं, समाज के सामने अधकचरी चीज़ भी न लाऊं और मेरे स्वाभिमान की भी रक्षा हो। एक विचार यदि वन गया है, और वह शक्ति रखता है, तो वह नष्ट नहीं हो सकता। यही सत्य की कसौटी है। ऐसी श्रद्धा और विश्वास से हम जैसे सामान्य लोगों को भी, भले ही क्षण भर के लिए ही क्यों न हो, आभास तो हो जाता है कि सत्य अमर है, अटल है।

विनोवा की 'गीताई' यद्यपि गीता का मराठी अनुवाद ही है फिर भी कहीं-कहीं वह मूल से भी अधिक सुन्दर वन पड़ी है। 'गीताई' को उनके इसी तरह के पूर्व प्रयत्नों का संकलित फल समझना चाहिए।

●

शून्य का चमत्कार :

गणित-शास्त्र में शून्य (०) वहुत ही अद्‌भुत, चमत्कारिक और प्रभावशाली है। वह स्वयं कुछ नहीं होते हुए भी जिस अंक पर शून्य लग जाता है उसे एकदम दस गुना कर देता है। किसी भी संख्या को किसी भी संख्या से गुणा करो तो उसका फल वढ़ता है, और भाग दो तो फल

घटता है। लेकिन शून्य ही एक ऐसी विचित्र संख्या है, जिससे बड़ी-से-बड़ी संख्या को गुणा करने पर वह उसे शून्य कर देती है, और भाग देने पर छोटी-से-छोटी संख्या भी 'अनंत' हो जाती है। अर्थात बढ़ाने की कोशिश में वह मिटाती है, और मिटाने की कोशिश में बढ़ाती है। यही शून्य का चमत्कार है और अप्रतिम प्रभाव । यदि गणित-शास्त्र में से शून्य को हटा दिया जाय तो उसका लगभग सारा 'रोमान्स' ही खत्म हो जायगा।

एक बार गणित के द्वारा सेवा के मूल्य को समझाते हुए वर्धा-आश्रम में, प्रार्थना के बाद, विनोबा कुछ ऐसा बोले, "देश के एक बड़े-से-बड़ा नेता को लो। मान लो उसने करोड़ों इकाई (यूनिट) सेवा की है, और हजारों इकाई गुण उसमें हैं। उसकी सेवाओं को अलग-अलग गुणों से गुणा करें तो उसकी सेवा की संख्या अरबों-खरबों हो जायगा। इस संख्या में उस नेता के दोषों या उसकी कमियां—और यदि वे दोष व कमियां न्यूनतम भी मान ली जांय—का भाग दें, तब भी भागफल करोड़ों की संख्या में आता हो तो काफी सेवा हुई यह मानना होगा।

"दूसरी ओर एक मामूली से देहात में एक सामान्य दर्जे का कार्यकर्ता लो। मान लो—जीवन भर सेवा करके भी वह ५-१० इकाई सेवा कर पाया है और उसके अन्दर जो गुण हैं वह भी अधिक मात्रा में नहीं हैं। तो उसकी सेवाओं में उसके गुणों (virtues) का गुणा करने पर गुणनफल सैकड़ों की संख्या तक ही पहुंचेगा। अब यदि सैकड़ों में से एकाध दोष उसने शून्यवत कर लिया हो तो अन्य सब दोषों का गुणनफल भी शून्य हो जायगा, और इस शून्य से जब उसके गुणों के गुणनफल में भाग दिया जायगा तो भागफल अनंत (infinite) हो जायगा। बड़े नेता ने जहां करोड़ों-अरबों की संख्या में सेवा की, वहां एक नगण्य कार्यकर्ता अनंत मात्रा में सेवा कर सकता है—यदि वह सच्चे हृदय से सेवा करे।"

अर्थात सेवा की मात्रा बढ़ाने की ओर ध्यान रखने की अपेक्षा यदि हम अपने दोषों को ही कम करते जायं तो सेवा की मात्रा स्वतः बढ़ती चली जायगी। सारे दोषों को कम करने के प्रयास के बनिस्बत 'मैं' और 'मेरा' को ही मिटा दें तो अन्य दोष भी लुप्त हो जाते हैं तथा गुणवर्धन भी अपने-आप हो जाता है। यह फिर शुद्ध सेवा, या शुद्ध-कार्य भगवान की सेवा,

साधना और पूजा के समान ही हो जाते हैं। उसे भगवान की पूजा कहो या अनंत की सेवा कहो—उसमें कोई फर्क नहीं! कबीर जव कपड़ा वुनते थे, तव उनका वह धंधा भी पूजा थी। किन्तु हम वड़े-से-वड़े कामों में लगे हुए भी जव उनसे जरा देर के लिए भी अलिप्त नहीं हो पाते और अपने स्वार्थों से सतत जुड़े रहते हैं, तो एटमवम और 'मिसाइल्स' वनाने के वावजूद हमारा कार्य उतना ऊंचा नहीं उठ पाता; छोटा ही रहता है।

शून्य जिस प्रकार वड़ी संख्याओं से मिलकर अपनी तरह ही उन्हें शून्य वना लेता है और छोटी-से-छोटी संख्याओं को विभाजित कर वड़ी-से-वड़ी महत्ता उन्हें प्राप्त कराता है, अणु (एटम) को विभाजित कर जिस तरह अणु-शक्ति का प्रादुर्भाव पदार्थ-शास्त्र में होता है, उसी तरह यदि हमारे अहंकार और अहम् को हम शून्य वना लेते हैं तो हममें भी वही ताकत आ जाती है जिससे हम कार्यों व सेवाओं का जो एक झूठा महत् स्वरूप हो उसे मिटाने की शक्ति हम हासिल कर लेते हैं और सच्ची सेवा व पवित्र काम को अनगिनत करने की भी शक्ति प्राप्त कर लेते हैं। शून्यवत् होकर महान वनने का एक सरल और सीधा व सच्चा तरीका है। इसीलिए शून्य को व्रह्म की उपमा दी गई है, और व्रह्माण्ड को भी शून्यवत् रूप माना गया है। यही शून्य की महत्ता है। दरअसल उसमें और भगवान में कोई अन्तर नहीं है। स्वयं भगवान का शून्य रूप भी है और अनंत और व्रह्म रूप भी। गणित और दर्शन-शास्त्र दोनों विषयों को यह कितना सरल वना देता है। विनोवा का है यह विश्लेषण। यह सुनने के वाद किसकी इच्छा नहीं होगी इन विषयों का गहरा अध्ययन करने की?

विनोवाजी की आत्मिक शक्तियों का कभी-कभी इस तरह से प्रभाव पड़ता है मानो उनको शरीर के वन्धन और मानव-जीवन की स्वाभाविक सीमाएं लागू ही न हों। इस तरह की विमुक्त अवस्था में वह अहर्निश विचरण करते हैं और अपने-आपमें निरन्तर पूर्णतः में निमग्न रहते हैं। दुनिया में ऐसा कोई दूसरा इन्सान कभी देखने में नहीं आया; न मैं कभी इस वात को अवतक समझ पाया हूं। मैंने कल्पना में भी इस तरह का खयाल नहीं किया था कि कोई ऐसा व्यक्ति भी धरती पर हो सकता

हैं—जिसका एक-एक क्षण आत्म-चिन्तन और मनरूपी हर-भजन में लगा हो और साथ-ही-साथ जो प्रतिक्षण किसी-न-किसी सेवामय कर्मरूपी पूजा में सतत रमा रहता हो; जिनके जीवन की तेजस्विता सूर्य की तरह प्रखर रूप से प्रेरणा देनेवाली है, और जिनकी तत्परता, निर्धारित नियमों से निरन्तर आवद्ध हैं; जिनकी कार्यनिष्ठा और विश्वास हिमालय की तरह भव्य और अडिग हैं; जिनके विचारों की शुद्धता और गहराई गंगा की तरह अत्यन्त निर्मल और सतत प्रवाहमान हैं; किसी भी विषय के अध्ययन या चिन्तन-मनन में जिनकी एकाग्रता की न कोई सीमा है, न उपमा; जिनका संकल्प आकाश की तरह सुविशाल और अविचल होता है; जिनके मन की दृढ़ता वज्र की तरह कठोर और अचूक असरकारक है; जिनकी सहनशीलता पृथ्वी की भांति क्षमाशील है और जिनके हृदय की ममता व समता सागर की तरह अगाध और निर्बाध प्रतीत होती है।

यूं तो प्रायः जव कभी किसी विशेष बुद्धिशाली विद्वान व्यक्ति के सामने सर्वसाधारण-शक्ति के लोग बैठते हैं तो उन्हें अपनी अल्पता का आभास होता रहता है, और उस बुद्धिमान दिग्गज के महान प्रभाव में अपने गुणों को भी भूल-से जाते हैं। वल्कि उसकी तीक्ष्ण बुद्धि के प्रहारों से विह्वल होकर वे उसके कायल हो जाते हैं।

यद्यपि उसकी कई वातें बुद्धिगम्य होती हैं फिर भी वह उनको हृदयंगम या आत्मसात नहीं कर पाते। वल्कि बुद्धि के चमत्कार और वाणी के विकास से चकाचौंध होकर बेचारे साधारण लोग अपना वचा-खुचा आत्म-विश्वास भी, कुछ समय के लिए ही क्यों न हो, खो बैठते हैं। लेकिन विनोवा जैसे हृदय-वीर के पास जव हम जाते हैं या उनके सान्निध्य में जव हम रहते हैं, तव उनकी वुद्धि के प्रहार से हम विह्वल नहीं होते, वल्कि उनके हृदयहारी आह्वान से हमारी सर्वसाधारण दैविक शक्तियों का ध्यान हमें हो आता है और अपनी विस्मृत भावनाओं का भान हमें होने लगता है। अपने आपमें वह आत्मविश्वास जागृत होता है जिससे हमारी शक्ति, हमारा विचार और हमारी निष्ठा हमें वढ़ती दिखाई देती है। हम अपने-आपकी नजरों में ऊंचे उठते हैं। आत्मिक-शक्ति के संचार का हम अनुभव करते हैं और प्रगति के पथ पर अग्रसर होने के लिए हमारे विकास का द्वार

धीरे से खुलने लग जाता है। तभी देदीप्यमान व्यक्ति की दैवी-शक्ति के प्रकाश का हम स्पष्ट दर्शन पाते हैं।

दुनिया में अवतक अनेक महापुरुषों ने अनेकानेक महान कार्य किये हैं। देह के भौतिक वन्धन से मुक्त होने के वाद उनकी महानता और उनके कार्य का महत्व दिनों-दिन वढ़ता हुआ दिखाई दिया है। परन्तु पृथ्वी पर ऐसे महापुरुष कम ही मिलेंगे जो देह धारण करते हुए भी उससे इतने अलिप्त प्रतीत होते हैं, मानो भौतिक वन्धनों से वह प्रायः विमुक्त ही हो गए हों। विनोवा को देखकर ऐसा ही लगने लगता है। उनकी निरन्तर जागृत, चैतन्य और नितांत तेजस्विता की वजह से ही यह सम्भव हो रहा है, जिससे क्षणमात्र के लिए ही क्यों न हो, उनके शरीर सम्वन्धी अलौकिक वन्धन और उसकी स्वाभाविक सीमाओं का हमें विस्मरण हो जाता है।

आजकल विनोवा का आत्मिक सन्ताप और हृदय की वेदना प्रज्ज्वलित ज्वालामुखी की तरह दिनों-दिन प्रचण्ड होती जा रही है। उससे उनका शरीर केवल ढांचा मात्र ही रह गया है। उनकी तपस्या से प्रज्ज्वलित हुआ यह ताप जीवन की शुद्धता और विचारों की दृढ़ता से पोषित होकर भयावह रूप धारण कर रहा है। इस दावानल से संसार में भयंकर संहार भी हो सकता था, किन्तु इसके विपरीत आज मानव-हृदय में नवजीवन का संचार होता हुआ दिखाई दे रहा है। विश्व-शांति का तथा मानव-कल्याण का उन्हें स्पष्ट रूप से दैवी साक्षात्कार हुआ है, यह मेरा विश्वास दिनों-दिन सुदृढ़ होता जा रहा है।

पुरी के सर्वोदय सम्मेलन में विनोवा का जो आखिरी प्रवचन हुआ वह अप्रतिम था। सम्मेलन के वाद सायंकालीन सामूहिक प्रार्थना के पूर्व प्रगट हुआ वह दैविक दिव्य विचार था, या आकस्मिक रूप से सुनाई देने वाली कोई अमर आकाशवाणी थी। और साथ ही वह था विनोवा का परम पावन दृढ़ संकल्प। उसका वह सुदृढ़ उच्चार और पवित्र आवेशयुक्त भावों का वह समुच्चय सव प्रकार से ईश्वरीय ही था, मानव कल्पित कदापि नहीं। गंगावतरण के समान उस पुनीत प्रवचन के प्रभाव में श्रोतागण इतने अधिकाधिक मुग्ध होकर वहे चले गए कि वे इतना तक भूल गए कि उनके आगे या पीछे कहां से या कव कौन क्या कह रहा है?

मेरे जीवन के कुछ अलौकिक प्रसंगों में से यह भी एक असाधारण महत्वपूर्ण अप्रतिम प्रसंग था। उस दैवी प्रवचन को सुनते हुए अखिल भारत के कोने-कोने से आये हुए अगणित सेवाभावी श्रोतागण मंत्रमुग्ध-से होकर गद्गद हो गए। वातावरण में चारों ओर एकदम से मन को मोहित कर देनेवाली स्तब्धता छा गई। उसीके साथ चिन्तकों के चित्त की सुप्त चेतना भी प्राणवान हो उठी।

"विनोवा के मुख से उच्चारे हुए वे विचार दैवी शक्ति से युक्त हुए मंत्रों के रूप में मूर्तिमान हो उठें, और उनके पवित्र संकल्प से अभिमंत्रित होकर मानव-जगत के जन-गण में, नवजीवन-सा जागृत कर दें।" यही मूक प्रार्थना सामूहिक रूप से श्रोताओं के मनोभावों को व्यस्त करके वहां के सारे वातावरण में व्याप्त हो रही हो, ऐसी गहरी अनुभूति हो रही थी। मेरी यह मान्यता है कि जिन्होंने उस दिन की उस दैवी वाणी को प्रत्यक्ष रूप में अपने कानों से सुना है, उन्हें अपने अन्तर में असीम समाधान और अप्रतिम धन्यता अवश्य महसूस हुई होगी।

संयोगी-स्नेह की अपेक्षा वियोग-मुक्त विरह-प्रेम के अवसर ही हमें अपने जीवन में अधिक उपलब्ध हुए हैं। इसलिए उसकी शक्ति के स्वरूप को हमें समझ लेना चाहिए। मैं मानता हूं कि हम मानवों की असली स्थिति तो है जीवनानन्द और परमानन्द में रमे रहना। और आसपास के वातावरण में रत रहते हुए भी जल-कमलवत उससे मन-ही-मन अलिप्त रहना। इसे मैं स्थितप्रज्ञ का विशेष लक्षण समझता हूं। जीवन में हर घड़ी, हर वक्त ऐसा परमानन्द अन्तर में समाया हुआ नहीं रहता। फिर भी कभी-कभी झटकते-लटकते ही सही, कुछ क्षणों के लिए ही क्यों न हो, उस अनिवर्चनीय अवस्था का अनमोल अनुभव चित्त में एक विचित्र-से समाधान और आनंद का संचार कर देता है। किन्तु विश्व-हित के लिए ही व्यक्त हुए किसी व्यक्ति-विशेष की स्थिति जब निरन्तर निर्मल, निर्लिप्त और अत्यन्त सहज स्वाभाविक रूप से अखण्ड आनन्द में निमग्न रहती हो, तब उसके दर्शन से सकल जन पावन होते हैं। ऐसे दर्शन के लिए ही मैं बीच-बीच में विनोवा के पास जाता हूं।

मैं मानता हूं महात्माजी में दैवी गुणों का अलौकिक समुच्चय और अद्भुत

सामंजस्य था। हजारों वर्षों से ऐसी महान आत्मा का विश्व को दर्शन नहीं हुआ था। सर्व-सामान्य मानव के समान, सब प्रकार की कमजोरियों के होते हुए भी बापू ने सतत प्रयत्न पूर्वक, सत्य की उपासना करते हुए, उनपर अपना पूरा काबू कर पाया और निरन्तर दरिद्रनारायण की सेवा करते-करते वह नर से नारायण हो गए। लेकिन लगता है विनोबा तो नारायण के रूप में ही धरती पर अवतरित हुए हैं।

पत्र-व्यवहार

नालवाड़ी (वर्धा), २६-२-३८

कमलनयन,

२६ जनवरी का पत्र मिला। शिक्षण के बारे में जो विचार व्यक्त किया, वह ठीक किया। शिक्षण में उद्योग का केवल उद्योग की दृष्टि से स्थान नहीं है। परन्तु वह सारे शिक्षण का द्वार है, यह समझना चाहिए। उद्योग से जो समस्याएं पैदा होती हैं, उनके हल के लिए कुछ समय उसकी उपपत्ति के लिए देना आवश्यक हो तो देना चाहिए।

मुझे लगता है कि तुमने मुझे जो पत्र लिखा, उसके बाद तुम्हें मेरा पत्र मिला होगा। किसी भी एक स्कूल की पहली कक्षा से लगाकर मैट्रिक तक की अंग्रेजी की सभी पाठ्य पुस्तकें (गद्य और पद्य दोनों ही) मुझे चाहिए---प्राइमरी वर्ग से मैट्रिक के अंत तक की व्याकरण आदि की पुस्तकों को छोड़ कर। पहले मैंने सिर्फ जानकारी मंगवाई थी। लेकिन समय ज्यादा हो गया है, इसलिए अब जानकारी नहीं, बल्कि पुस्तकें ही भेज दो तो ठीक रहे।

विनोबा

बम्बई, ११-८-४८

पूज्य विनोबाजी,

एक दफे मैं ईशोपनिषद का आपका मराठी भाषान्तर पढ़ रहा था।

उतने में कवि वालकृष्ण बोरकर आ गए। उनको आश्चर्य हुआ कि मैं कुछ पढ़ रहा हूं। पूछा कि क्या है? मैंने कहा—"देखो, कितना सुन्दर मराठी में विनोवाजी ने ईशोपनिषद का भाषान्तर किया है।" वह भी देख गए और उनको भी अच्छा लगा। परन्तु वोले, कि विनोवाजी ने इसको पूरा पद्य में ही किया होता तो अधिक अच्छा होता। मैंने कहा कि यह गाया जाता है और विनोवाजी इसको वहुत ही अच्छे तरीके से गाते हैं और उसे तुम्हें एक दफे अवश्य सुनना चाहिए। वाद में मैंने उनसे कहा कि विनोवाजी ने जो कुछ किया सो तो किया ही और उसे पद्य में नहीं करने का कोई कारण भी होगा। और मैंने अपनी तरफ से भी कुछ कारण दिये और फिर कहा कि तुम उसको पद्य में क्यों नहीं कर देते। इस सारी वात को किये अर्सा हो गया। जहांतक मेरा खयाल है १२ महीने तो करीव हो गए होंगे। अव अफ्रीका से लौटने पर कवि वोरकर का जो पत्र आया है, उसकी नकल के साथ जो भाषान्तर उन्होंने भेजा है वह आपकी जानकारी के लिए भिजवा रहा हूं। पढ़ने में कहीं-कहीं तो काफी अच्छा लगता है, वाकी भाषान्तर कितना योग्य हुआ और काव्य की दृष्टि से उसमें क्या कमी रह गई, यदि रह गई हो तो, आप ही उसको देख सकते हैं। इसलिए आप ही की तरफ उसको भिजवा रहा हूं। आप उसका कुछ उपयोग भी करना चाहें तो बोरकर को उसमें किसी प्रकार का एतराज होने की संभावना ही नहीं है, परन्तु वह उसमें अपने-आपको कृतार्थ समझेंगे।

पिछले शनिवार को पूज्य काकासाहव के साथ ही पूर्व अफ्रीका, बेल्जियन कांगों का कुछ हिस्सा, अडिस अवावा और अदन होते हुए हम लोग यहां पहुंचे। हम लोगों की यात्रा के वारे में पूज्य काकासाहव लिख रहे हैं जिससे कि अधिक कुछ कहने को नहीं रह जायगा। वहां मुझे वहुत कुछ सीखने और समझने को मिला है। वहां के अनुभव वहुत ही मीठे हैं। सृष्टि-सौंदर्य प्रचुरता में वहां देखने को मिला। कई चमत्कारी चीजें देखीं, जिससे आनन्द और आश्चर्य दोनों हुआ। 'रिफ़्टवैली' की वजह से वहां की धरती पर जो असर हुआ है और उसका परिणाम जो मानव जीवन पर दिखाई देता है, वह वहुत ही अचम्भे-कारक चीज मेरे देखने में आई, जिससे प्रकृति के कुछ मूल सिद्धान्तों को समझने में काफी प्रकाश मिला।

वहां के जंगलों में जंगली प्राणियों को खुले आम विचरते देख हृदय प्रफुल्लित और गद्‌गद हो जाता था। कितने मोहक और प्रिय ये जानवर लगते थे इसका कोई ठिकाना नहीं है। वह सारी वातें मिलने पर ही कह सकूंगा। मुझे तो वह प्रदेश वहुत ही अच्छा लगा, वार-वार वहां जाने को मिले इसका मन रहता है। उनके राजनैतिक और सामाजिक सवालों का भी कुछ अध्ययन हुआ। लेकिन वह सव तो प्रकृति के खेल में गौण-सी चीज़ थी। फिर भी मानव-विकास में उसका एक भारी असर है।

हमारी जानकारी परदेशों के वारे में, और खासकर ऐसे देश जो कि हमारे निकटवर्ती हैं, पड़ोसी हैं, नहीं के वरावर है। यह कहां तक ठीक है, यह सोचने का सवाल है।

जहां जाते हैं वहां महात्माजी ने आपको क्या सिखाया, उन्होंने ऐसी क्या चीज़ की जिससे आपको आज़ादी मिली, हम यहां पर क्या कर सकते हैं, महात्माजी होते तो वह क्या चाहते कि हम वहां करें, इत्यादि सवाल वहां की मूल, परन्तु, अपढ़ और मूढ़ जनता पूछती है। उनकी दृष्टि आज़ाद हिन्दुस्तान की तरफ लगी है। वे मानते हैं कि गांधीजी के वताये हुए ज़रिये से ही उनका और मानवता का कल्याण होगा। वे यहां से गांधीजी का संदेश ले जाना चाहते हैं। वे अपने वच्चों को हिन्दुस्तान भेजना चाहते हैं, विलायत और अमेरिका नहा। उनको हिन्दुस्तान से वड़ी आशाएं हैं, महात्माजी के रचनात्मक कामों में वे दिलचस्पी लेना चाहते हैं। वे मानते हैं कि उनको अपने पांव पर खड़ा होना होगा। वे जानना चाहते हैं कि कौन-सा जरिया—कौन-सी राह वे पकड़ें। उन्हें मार्गदर्शक की आवश्यकता है।

महात्माजी को सत्याग्रह का मंत्र दक्षिण अफ्रीका में मिला। उसको उन्होंने वहीं आज़माया और हिन्दुस्तान में आकर उसको रट-रट कर अभिमंत्रित किया। उस मंत्र के पवित्र उच्चार से राजनैतिक जीवन में भूतों को भगाया, हमारे राष्ट्र के सामाजिक जीवन में काफी तवादला किया। हमारी आर्थिक रचना में और जीवन के दूसरे पहलुओं में आवश्यक सुधार करने का जरिया उन्होंने वताया। उनके उपदेशों को हम कहां तक हजम कर पाये हैं, इसकी मुझे पूरी शंका है। मुझे ताज्जुव नहीं होगा कि महात्माजी ने उन मंत्रों की सिद्धि अपनें जीवन में प्राप्त कर जो कुछ हमें दिलाया है,

हमारी प्रगति एक राष्ट्र के नाते वहीं या उसीके ही आसपास तक रह जाय। सम्भव है नव मानव-धर्म के निर्माण के लिए दुनिया को हम संदेश दे सकें जिससे सारी दुनिया में सुख, शान्ति, सुरक्षा और संतोष मानवता में वढ़ता दिखाई दे। लेकिन उसके लिए सारे राष्ट्र को जो आवश्यक कार्य कर दिखाने हैं, या जिस तपस्या में से गुजरना है, वह करने का माद्दा, तत्परता और आवश्यक श्रद्धा की कमी राष्ट्र के नाते मुझे महसूस होती है। हो सकता है कि हमारी राष्ट्रीय बुद्धि का विकास इतना कुछ अधिक हो गया है जिसकी वजह से हमारी श्रद्धा और तपश्चर्या में कमी पड़ रही है और हमारी भावनाएं लंगड़ी होती जा रही हैं।

पूर्व अफ्रीका के मूल वतनी असभ्य गिने जाते हैं। उनका संस्कृति सैकड़ों वर्ष का ही नहीं हजारों वर्ष की पिछड़ी हुई माना जाती है। अभी तक उनके जीवन में चक्की, चरखा, पानी का रहट, वैल-गाड़ी आदि किसी प्रकार के भी चक्र का प्रवेश नहीं हुआ है। हजारों वर्ष के जीवन के वाद किसी भी प्रकार का चक्र उनके जीवन में न देखकर मेरे आश्चर्य का ठिकाना न रहा। एक साधारण चक्र, जैसे 'संशोधन' ढूंढ़ने जितनी प्रगति वे नहीं कर सके; यह काफी आश्चर्यजनक वात गम्भीरता से अध्ययन करने-जैसी है। परन्तु, इसके वावजूद भी उनमें कई ऐसी वातें मैंने देखीं जिससे मुझे ताज्जुव नहीं होगा; यदि वे लोग आदिकाल से मानवता के लिए हिन्दुस्तान का जो संदेश है उसको वे लोग अच्छी तरह से समझ कर ग्रहण करें और सारा राष्ट्र का राष्ट्र उसको अपने पूरे जीवन में उतार कर सारी दुनिया के सामने एक जीती-जागती मिसाल पेश कर सके, जिसकी वजह से यह संभव लगने लगे कि मनुष्य मनुष्य में कोई फरक नहीं और सारी मानवता के सवालों का जवाव एकमात्र यही है। मैं मानता हूं कि उसके लिए आवश्यक तत्परता उनमें मैं देख सका, भावनाओं की उनमें कमी नहीं और तत्परता व लगन के वल पर श्रद्धा कमाई जा सकती है और जीवन वनाया जा सकता है।

हम लोगों के जीवन में संस्कृति और सभ्यता के साथ कितनी विकृति आ गई है उससे वच निकलना कठिन-सा होता जा रहा है। वहां का क्षेत्र कहीं अधिक निर्मल और सरल है। हो सकता है, जो ऋषि-मुनियों और संतों

की वाणी का संदेश भारत में गूंजता रहा, हम लोग उसका उच्चार करते ही रह जायं और मानवता के किसी दूसरे समूह के लिए यह संभव हो कि हमारे उच्चरित संदेशों को सामूहिक रूप से वे अपने जीवन में उतार लें। हिन्दुस्तान में व्यक्तिगत रूप में जो पूर्णता हमारे महापुरुषों के जीवन में देखने को मिलती है, उसका साक्षात्कार समष्टी रूप से किसी भी दूसरे देश में देखने को मिलेगा, तो इसका आभास मुझे पूर्व अफ्रीका में अवश्य हुआ। उससे मेरा विश्वास हमारे महापुरुषों के वचनों में दृढ़ हुआ है। मानवता के कल्याण के लिए भारत या और कोई देश, जहां के लोग घर में कामयाव क्यों न हों, निमित्त कौन वनता है और उसकी प्रतिष्ठा किसे जाती है, आखिर में यह तो गौण वस्तु रह जाती है। असला वात तो हमारा विश्वास है कि इन सिद्धान्तों और जरियों के द्वारा मानवता का कल्याण हो सकता है या नहीं। यदि हो सकता है तो इस काम के करने के लिए आवश्यक इंसानियत कहीं मौजूद है या नहीं! वही इन्सानियत मानव परायणता है। उसीको मैं ईश्वर-परायणता समझता हूं। इसका स्वच्छ दर्शन मुझको वहां पर नहीं हो सका, इसका कारण पवित्रता की कमी मेरे खुद में मैंने महसूस की। और वह आभास मात्र ही मेरे विश्वास को दृढ़ कर सका, मेरे विचारों को अधिक स्थिर वना सका। यह हो सका क्योंकि उनके हृदय का विकास हुआ, बुद्धि का विकास या यों कहिये—Cultural Development of the mind & material वह मुझे देखने में दोनों मिले। और पाश्चात्य संस्कृति में संस्कृति का शायद यह अर्थ हो गया है कि Culture of the mind which is associated with material resources. हृदय के विकास के लिए वे ज्यादा स्थान नहीं देते हैं। हम लोग भी उसी चीज़ के शिकार वनते जा रहे हैं। शायद भगवान ने इन्हीं सव कारणों की वजह से उन लोगों को इस तरह की पाशविक संस्कृति से इतना अछूता रखा था। क्योंकि उन्हीं जैसे लोग जिनके हृदयों का विकास प्रचुरता में हुआ हो, मानवता का कल्याण कर सकेंगे, इसमें मुझे कोई शंका नहीं है।

आपको लिखने बैठा तो कुछ विचार जो मेरे दिल में उमड़ आये, उन्हें ज्यों-का-त्यों, भाषा की किसी प्रकार की अशुद्धि की तरफ खयाल न करते हुए, यहां उद्धृत कर दिए हैं। यह विषय भी मेरे जैसे व्यक्ति के

समझने के लिए बहुत ज्यादा गहन है और कहीं उलट-पुलट समझ गया होऊं तो ताज्जुब नहीं है। परन्तु, आपके सामने तो हमेशा ज्यों के त्यों स्पष्ट और साफ ही रखने का प्रयत्न मैंने किया है। आपके पास जो मैं आता हूं तो किसी तरह का आवरण मुझको अच्छा नहीं लगता। इसलिए जैसे जो विचार आये ज्यों के त्यों मैंने भर दिये हैं। मिलने पर अधिक बातें होंगी। कम-से-कम मुझको तो आपको सुनना है ही। उससे आपको कुछ मिलेगा या नहीं, पता नहीं, परन्तु, कम-से-कम मेरे दिमाग में और दिल में जो कुछ गलत-सलत घुस गया हो उसको तो मैं कम-से-कम वास्तविक रूप में पा सकूंगा, यह भरोसा है।

अगले सप्ताह शायद मेरा दिल्ली आना होगा। क्योंकि वहां खुद जो देखा और समझा उसके बारे में पंडितजी को जानकारी देनी होगी। वहां का काम निपटाकर यहां आकर या संभव हुआ तो सीधे वहीं से वर्धा आने का विचार है। फिर भी वहां आने के पहले शायद १५ एक दिन लग जायं। अभी कुछ निश्चित रूप से नहीं कह सकूंगा।

आपका स्वास्थ्य अच्छा होगा। सारे भ्रमण में मेरा स्वास्थ्य काफी अच्छा रह सका, यह भी कोई कम संतोष की बात तो नहीं है!

. . १९५२

कमलनयन,

तुम्हारा चिन्तन अच्छा लगा। त्रिगुण के विषय में अनेक प्रकार से विचार किया गया है और किया जा सकता है। तमोगुण से नीचे की अथवा सत्त्वगुण से ऊपर की वृत्ति की कल्पना नहीं की जाती। सारे जगत का विभाग तीन गुणों में करना है। तीनों गुणों से अलिप्त एक अवस्था है। उसे गुणातीत पुरुष की भूमिका समझना चाहिए। उसमें किसी प्रकार की वृत्ति नहीं रहती, अतः उसे निवृत्ति कहते हैं, परन्तु निवृत्ति का अर्थ प्रवृत्ति विरोध नहीं। प्रवृत्ति विरोध भी एक वृत्ति ही है, उसे तमोगुण कहना चाहिए।

इतने प्रास्ताविक कथन के बाद अब मूल प्रश्न लो। तत्त्वतः त्रिगुण प्रकृति के घटक हैं। प्रकृति में तीनों की आवश्यकता एक समान ही है। स्थिति, प्रकाश और गति, तीनों मिलकर जीवन बनता है। यह तात्त्विक दृष्टि है। इसमें ऊपर या नीचे का कोई भेद नहीं है।

इससे भिन्न नैतिक दृष्टि है। इस दृष्टि से तम, रज, सत्त्व ये उत्तरोत्तर श्रेष्ठ गुण हैं। सामान्यतः लोग इस दृष्टि से विचार करते हैं।

सृष्टि-तत्त्व को समझानेवाली प्राकृतिक अथवा तात्त्विक और दूसरी नैतिक, इन दोनों से भिन्न एक तीसरी साधना की दृष्टि है। तदनुसार रज और तम एक दूसरे के प्रतिक्रियारूप अथवा परीक्षणरूप अथवा पूरक हैं। दोनों मिलकर एक ही वस्तु हैं। रजोगुण की थकावट से तमोगुण आता है, तमोगुण की थकावट से रजोगुण आता है, दोनों से सत्त्वगुण भिन्न है और वही साधकों का सखा है। रजोगुण और तमोगुण मिलकर आसुरी सम्पत्ति, सत्त्वगुण, दैवी सम्पत्ति—ऐसा संघर्ष चल रहा है।

गीता में प्राकृतिक, नैतिक और साधनिक, तीनों प्रकार का विवेचन मिलता है। मैं प्राकृतिक विचार को छोड़कर नैतिक और साधनिक दृष्टि से मुख्यतः विचार करता रहता हूं। कभी नैतिक, कभी साधनिक। जिस विवेचन के सम्बन्ध में शंका उत्पन्न हुई है, उसमें साधनिक दृष्टि है, इसलिए रजोगुण और तमोगुण की एकत्र कल्पना की गई है।

फलत्याग के विचार की अधिक छानबीन 'स्थितप्रज्ञ-दर्शन'[१] और 'गीताई-कोष'[२] में की गई है।

विनोबा

१-२. 'गीताप्रवचन' के दूसरे अध्याय में रजोगुण और तमोगुण की तुलना की गई है। उसे पढ़कर मैंने अपनी निम्नलिखित शंका विनोवाजी को लिख भेजी थी। उपरोक्त पत्र उसी का समाधान करने के लिए लिखा गया था।

'गीताप्रवचन' के दूसरे अध्याय में कर्म करनेवालों की दुहेरी वृत्ति वताते हुए रजोगुण और तमोगुण की समता आपने कही है। "लूंगा तो फल-समेत ही", यह रजोगुण की वृत्ति वताई। और "छोड़ूंगा तो कर्म-समेत ही", यह तमोगुण की वृत्ति वताई है। दोनों वृत्तियों में फर्क नहीं है, यह भी आप कहते हैं। मेरे विचार से दोनों वृत्तियों का समावेश रजोगुण में ही हो जाता है। १,३,९ के हिसाव से तमोगुण, रजोगुण और सत्त्वगुण एक-दूसरे से दूर हैं। रजोगुण और तमोगुण एक ही वृत्ति के भावात्मक और अभावात्मक (पाजिटिव और नेगेटिव) स्वरूप नहीं हैं। कम करके फल को

०००

काशी, ६-७-५२

कमलनयन,

दामोदर को लिखा हुआ पत्र देखा। उसका जवाब दामोदर लिखेंगे।

तुम्हारा पत्र अंग्रेजी में टाइप किया हुआ था। रामकृष्ण का भी पत्र ऐसा ही था। वह अच्छा नहीं लगता है। स्वतंत्र भारत की शोभा का खयाल हमें रखना चाहिए। हिंदी टाइपिस्ट वगैरा रखने में कुछ खर्चा आता हो तो भी वह सहन करना चाहिए।

विनोबा

पड़ाव : कुरु (रांची)
२५-११-५२

कमलनयन,

दिवंगत किशोरलालभाई के स्मारक की जो बात सोचते हो, तो वह तो ठीक है। लेकिन उसके लिए पैसे इकट्ठा करना मुझे नहीं जंचता। मैं मानता हूं कि किशोरलालभाई को भी न जंचता। वैसे तो गांधी-स्मारक के लिए इकट्ठे किये गए, वह भी मुझे अच्छा नहीं लगा था। लेकिन उस समय नेताओं ने जाहिर कर दिया और उसका विरोध करना बेकार था। उस समय किशोरलालभाई की भी मेरे-जैसी ही राय थी। लेकिन हम दोनों चुप रह गए। फिर भी जहां-कहीं लोगों ने मुझसे सीधा सवाल उस बारे में पूछा, वहां मैंने अपना मतभेद कह भी दिया।

छोड़ना सत्त्वगुण है। "लूंगा तो फल समेत ही" और "छोड़ूंगा तो कर्म समेत ही" ये दोनों वृत्तियां रजोगुण में ही खपनी चाहिए। "केवल फल लूंगा, पर कर्म नहीं करूंगा", यह वृत्ति तमोगुण में जायगी। इससे भी एक भिन्न लापरवाही की वृत्ति हो सकती है। कर्म किया तो किया, अथवा हुआ तो हुआ। फल की अपेक्षा, परवाह, आवश्यकता, मोह आदि नहीं होता। उलटा फल आया, लिया तो लिया। कर्म की जरूरत, जवाबदारी नहीं मालूम होगी। यह वृत्ति तमोगुण से भी नीचे की होगी और ध्यानमग्न स्थिति में सात्विक वृत्ति से भी ऊपर को निकलेगी।

०००

विनोबा

वह वात तो हो गई। अव मैं चाहता हूं कि फिर से हम वैसी गलती न करें।

परन्तु किशोरलालभाई की वृत्ति को शोभादायक हो, ऐसा कोई स्मारक हमें सोचना चाहिए। उस वारे में अधिक सोचो। आखिर वह भूदान-यज्ञ के विचार के साथ अत्यंत एकरूप हो गए थे, उसका भी खयाल रखना होगा। उस वारे में कुछ सूझे तो मुझसे मिलकर चर्चा करना बेहतर होगा।

मैं २९ ता० को रांची पहुंच रहा हूं। वहां विद्यार्थियों का सम्मेलन होने जा रहा है। वहां तो शायद नहीं पहुंच सकोगे और उतनी उतावली भी नहीं है।

विनोवा

डेंगरशीम (स्विस)
२०-८-५४

पूज्य विनोवाजी,

ज्ञान की वात तो आपको क्या लिखूं। दुनिया-भर का सारा ज्ञान तो पहले से ही आप हजम किये बैठे हैं। फिर भी विखरा-विखराया कहीं कुछ पड़ा रह गया तो मदालसा उसे वटोरकर आपको जरूर पहुंचा देती होगी। फिर औरों के लिए लिखने को रहा ही क्या? मैं तो आज आपको वैसे ही फालतू वात पर लिखने बैठा हूं, जिसके वारे में न आपने कभी कुछ जाना, न किसी ने आपको कहने की हिम्मत की होगी। फालतू वातें भी दुनिया में कितनी उपयोगी होती हैं, और कितने मजे की, यह जो अनुभव करे सो जाने।

अपने राम तो हिन्दुस्तान में मोटर वायीं और दाहिनी मोड़कर चलाना जानते थे। लंबे रास्ते पर तो ठीक बीचों-बीच चलाते थे। आपके जैसे गणितज्ञ भी विना किसी भूमिती के औजारों के जैसा बीच न निकाल पाते, जो हम सहज में ही ६०-७० और कभी तो ८० मील की रफ्तार से चलते हुए निकालते रहते थे। हिन्दुस्तान में था, तव मैं जानता था, कि दुनिया में दो तरह से मोटर चलाई जाती है। कनाडा को छोड़ कामनवेल्थ देशों

२५

में, जापान और स्वीडन में बायीं तरफ से मोटर चलाते हैं।[1] अन्य देशों में दाहिनी तरफ से चलाते हैं। दुनिया के लोगों को अचंभा होगा अगर उन्हें मालूम कराया जाय कि भारत में तथा एशिया के कुछ अन्य देशों में मोटर तीसरे तरीके से, अर्थात सड़क के बीचों-बीच भी चलाई जाती है। मैं भी अपने हुनर में, इस विचित्रता में, किसी प्रकार कमी नहीं आने देता था। इस तरह बीच में चलाने से जितना दोष चलानेवालों का है उससे कम दोष रास्ते का या उसकी बनावट का नहीं है। अपने यहां रास्ते कम चौड़े बीच में से गोलाई लिये हुए दोनों तरफ उतरते जाते हैं। शायद रास्ते की यह बनावट इसलिए की गई है कि बरसात का पानी लुढ़क जाय और रास्ता बचा रहे। मोटर चलानेवाला यदि एक तरफ चलाये तो दो मोटर जायं इतनी रास्ते की चौड़ाई अधिकतर नहीं होती। जहां है भी तो रास्ते की गोलाई की वजह से मोटर टेढ़ी जायगी। एक बाजू के दोनों चक्के ऊंचाई पर होंगे और किनारे की तरफ के दोनों चक्के नीचे होंगे। ऐसी स्थिति में मोटर को तेजी से चलाना न तो संभव है न उचित ही। फिर चलानेवाला तो बीचों-बीच चलाता है, उसके पास लाचारी के अलावा दूसरा चारा भी नहीं। भारत में मोटरों का आवागमन परिमाण में इतना कम है, फिर भी वहां चलानेवाले को जल्दी थकान आती है। सामने से मोटर आई कि बाजू में करो। मोड़ पर हल्ला मचाओ या भोंपा फूंको। इसके अलावा गधे, भैंस और बच्चे, बिना गिनती के कुत्ते, बिल्ली आम रास्ते को रोके रहते हैं। अड़ के जम गये तो फावड़ा लेकर उनके पीछे भागना पड़ता है। खराब रास्ते, फिर बैल-गाड़ियां, धूल, तिस पर बाबा की पदयात्रा की टोली, न जाने कितनी आफ़तों से बचता-बचाता बिचारा मोटरवाला गुजरता है। कोई उस पर तरस नहीं खाता।

यहां रास्ते सपाट होते हैं। चौड़े, ठीक मरम्मतवाले और अच्छी बनावट के। धूल तो मांगे मिले नहीं। चाहिए तो बाजार में खरीदनी पड़े। चौड़े रास्ते रहने से मोड़ पर भी गाड़ी को अपनी तरफ रखना पड़ता है। इतना किया तो फिर बेपरवाह जाओ। कोई गधा बीच में मिलता नहीं,

१. अब स्वीडन में दाहिनी ओर मोटर चलाते हैं।

न धूल चाटता वच्चा दिखाई देता है। मोटर का भोंपा तो कभी भाग्य से ही वजता है। अधिकतर, वजता भी है तो, आगे की गाड़ी को इशारा करने के लिए। वह खतरे की ही सूचना न होकर दूसरे के इरादों की जानकारी होती है।

करीव साढ़े तीन हजार मील अपनी मोटर में, और १००० मील के ऊपर पराई मोटरों में मैं घूम चुका हूं। पहले लगता था कि लंडन के रास्तों पर, जहां आदमी कहीं हटता ही नहीं दिखाई देता, और मोटरों की भरमार व हर रास्ते पर कई कतारें लगी रहती हैं, और यूरोप के जंगल में गाड़ी विगड़ गई तो किस तरह चलायेंगे। लेकिन थोड़े अनुभव से यह सव कुछ अधिक सहज मालूम देता है। मुझे घमंड नहीं करना चाहिए क्योंकि अभी काफी घूमना है। रास्तों की वनावट तथा निशानियां इतनी अच्छी तरह हैं कि एक वार समझ लो, फिर कोई परवाह नहीं। सव मुख्य रास्तों पर मोटर असोसिएशन के मददगार मोटर साइकिल पर दौड़ते रहते हैं। जहां कहीं कोई मुसीवत में पड़ा कि मदद के लिए हाजिर। असोसिएशन के सभासदों को तो उनका गाड़ी पर बैज देखते ही सलाम करेंगे। मतलव, मदद चाहिए तो हाजिर हूं। उनकी मोटर साइकिल का रंग व उनकी वर्दी अलग और दूर से पहचान में आती है। मुसीवत में दूसरों को भी मदद देते हैं। रास्तों पर जगह-जगह पर असोसिएशन के टेलीफोन-बॉक्स लगे हैं। मोटर विगड़ी तो नक्शे में देखकर नज़दीक के बॉक्स पर आने-जानेवाली गाड़ी से या पैदल ही जाकर टेलीफोन कर दो। तुरन्त मदद पहुंचेगी। यह सारी मदद मुफ्त होती है।

रास्ते के लिए नक्शे इतनी जानकारी देते हैं तथा अन्य सामग्री भी इतनी मिल जाती है कि भाषा जानो न जानो, मूक आदमी भी मोटर से यूरोप में सुख से भ्रमण कर सकता है। यदि बोलने की बीमारी उसे लागू हो तो वात दूसरी।

नक्शे में रास्तों को कई श्रेणियों में वांट रखा है। वड़े, छोटे, अच्छे, बुरे शहरों के नक्शे जो बीच में आते हैं, साथ में दिये रहते हैं। ठहरने की जगह, होटल सस्ती-महंगी के हिसाब से विभाजित कर, वनाई जाती है। सिनेमा-थियेटर, देखने लायक अन्य स्थान, चर्च, स्टेशन सव अच्छी तरह से

१९५

दिखाये जाते हैं। मूक आदमी तो चला सकता है, लेकिन बाराखड़ी उसको आवे तथा हरे लाल रंग की पहचान हो तो और मुसीवत कुछ नहीं।

हिन्दुस्तान में मोटर चलाते समय कांच में से पीछे का ओर कोई नहीं देखता। इसका उपयोग तो कभी गाड़ी पीछे ले जानी या घुमानी हो तव किया जाता है। यहां तो सतत आइने में से पीछे देखते रहना पड़ता है। पीछे की गाड़ी को देखे विना रोकना तो मुसीवत है ही, घूमना भी खतरे से खाली नहीं। यहां मोटर चलाते समय इस एक नई चीज़ की आदत डालनी पड़ती है।

सव सड़कों पर कहां गाड़ा रोकी जा सकता है, कितनी देर के लिए रुक सकती है, विल्कुल ही नहीं रुक सकती आदि सव दिया रहता है। चलाने-वाला परदेशी आदमी होता है तो जनता या पुलिस तंग नहीं करती। कई खून माफ रहते हैं। आपकी गाड़ी परदेशी है उसकी प्लेट उस पर लगी रहती है। यहां की सड़कों के चिह्न चित्रों से भी स्पष्ट किये जाते हैं, उससे समझने में आसानी होती है। ये चिह्न अंतर्राष्ट्रीय हैं। भारत में भी वड़े शहरों में चालू हो गए हैं।

रास्तों की निशानियां देखना अत्यंत आवश्यक है। भारत में इसकी इतनी आदत नहीं पड़ती। यहां तो सूचना नहीं देखी तो गलती हो सकती है। रेलवे क्रासिंग पर, अच्छी-अच्छी सड़कों पर भी फाटक नहीं होते । पर उसकी सूचना तीन दफे आता है। पहला दफा ३०० गज या मीटर पर, दूसरी २०० और फिर १०० गज की दूरी पर। फाटक वाला क्रासिंग हों तो वैसी सूचना, अन्यथा दूसरी तरह की, जिसमें इंजन दिखाया होता है। जव गाड़ी आती है तो पहले से ही लाल वत्ता टिमटिमाने लगती है। लंबे रास्तों पर जगह-जगह पर चौड़ी सड़कें करके गाड़ी खड़ी करने की जगह दी गई है जिन्हें 'ले वाइ' कहते हैं। गाड़ियां इन्हीं पर आकर ठहर सकती हैं, बीच रास्ते में नहीं।

मोटर-भ्रमण को एक अच्छा-खासा विज्ञान ही वना दिया गया है। एक दफे समझ लेने से मोटर-भ्रमण में जो आनंद और मजा आता है, वह रेल, वस या हवाई जहाज स नहीं आता। पैदल भ्रमण तो मैंने किया नहीं, इसलिए उसके वारे में नहीं लिखता हूं। वह तो आप जानें। यूरोप में पहले

भी दो वार आ चुका हूं, लेकिन इसी वार लगता है कि सचमुच मैंने कुछ देखा। बुराई इतनी हो गई है कि विना मोटर के आइंदा भा घूमने में मजा नहीं आयेगा।

आपने सुना होगा कि सड़कों पर लिखा रहता है कि इतनी तेजी से अधिक मोटर मत चलाओ। शहरों में भारत की तरह यहां भी इसी तरह है। लेकिन कुछ वड़े रास्तों पर, खास करके जो जर्मनी के हैं, उनपर कम-से-कम जाने की गति लिखी रहती है। उससे धीरे जाने पर सजा मिल सकत। है। पर धीमी गति पर खास चैकिंग नहीं है और ना पुलिस इस नियम का वहुत सख्ती से अभी पालन ही करती है।

इन वड़ी सड़कों को आटोवन (Autobehn) कहते हैं। इस शव्द की और वाहन की उत्पत्ति एक ही मूल से लगती है। जर्मन भाषा में मोटर गाड़ी को 'वागन' कहते हैं। उसका भी वाहन से वहुत नज़दीकी ताल्लुक लगता है। 'आटोवन' सड़क क्या है, परियों के दौड़ने का आंगन ही समझिये। हिटलर के वनाये हुए ये रास्ते हैं। ये सव से वड़े रास्ते हैं। काफी चौड़े। इनके आने-जाने के मार्ग के वीच १०-१५ फुट घास का मैदान छोड़ा रहता है। आने-जाने वाली गाड़ियों की टक्कर हो ही नहीं सकती। इन रास्तों से कोई दूसरे रास्ते सीधे ९० डिग्री पर आकर नहीं मिलते। कोई रास्ता इन्हें काटकर जाता नहीं। इस तरह के रास्ते या तो नीचे से जावेंगे या ऊपर से। दोनों में से एक व्रिज पर होगा। रेल भी इसी तरह निकाली गई है। जो छोटे रास्ते आकर मिलते हैं, उन्हें दूर से घूम कर वाजू में लाकर मिला देते हैं। हिटलर ने इन रास्तों को फौजों को तेजी से एक जगह से दूसरी जगह भेजने के लिए वनवाया था। इन रास्तों की कल्पना भी जिसने पहले-पहले की होगी वह 'जीनियस' ही होगा। अमेरिका में भी ऐसे रास्ते हैं, लेकिन जानकार लोग कहते हैं कि वे भी इतनी चतुराई को लिये नहीं हैं, शायद वनावट में अधिक अच्छे हों। इन रास्तों पर मैं छोटी गाड़ी को भी ८३ मील की तेजी से ले गया हूं। इससे अधिक मेरी गाड़ी का न मीटर है न जाती है। इतने तेजी भी कुछ ढलाव की वजह से आ सकी, अन्यथा इंजन शायद इतना काम नहीं करता। लोग १००-१२५ मील की रफ्तार से जाते हैं और मालूम नहीं देता। जंगल के

रास्ते में चढ़ाई, उतराई और मोड़ का वजह से जहां दूसरे रास्तों में ३० माल की रफ्तार मुश्किल से आई, वहां ६० की हम इन रास्तों पर आसानी से ला सके। लंबी मुसाफिरी इनपर आसानी से होती है। इन सड़कों पर रफ्तार तेज होने की वजह से उतने ही पहले खतरों की सूचना देते रहते हैं। उतार-चढ़ाव आगे कैसा है, उसका अंदाजा देते हैं जिससे तेजो से चलानेवाले अपने-आपको जिस गति पर लाना हो, ला सकें।

एक रास्ता यहाँ 'सुइसाइड रास्ता' माना जाता है। जो छोटे रास्ते होते हैं लोग उन्हें समझके चलते हैं। डवल रास्ते, जिन्हें 'टु-वाइ' (दुहेरे) के रास्ते कहते हैं, उनमें आने-जानेवाली गाड़ियां आसानी से आती-जाती हैं। जिसको आगे ले जानी होती है वह समझके ले जाता है। लेकिन 'थ्री-वे' (तिहेरे) वाली सड़क खतरे की गिनते हैं। यह चौड़ी अधिक होती है, लेकिन बीच के 'वे' में तेज जानेवाली दोनों तरफ की मोटर आगे निकलने के लिए आती हैं। इसमें दुर्घटनाएं अधिक होती हैं। इसीलिए इन्हें 'सुइसाइड रोड' कहते हैं। चार 'वे' की सड़कें अति उत्तम होती हैं। धीरे जाने-वाली गाड़ियां पहले 'वे' में होती हैं और तेजी से जानेवाली दूसरे में। उससे तेजवाली आती हैं तो आगेवाला पहले 'वे' में जहां जगह होती है आ जाती हैं। सामनेवाली गाड़ियों का तो मुकावला होता नहीं। अधिकतर आने-जानेवाली सड़कों के बीच जगह रहती है।

'आटोवन' पर साइकिल, घोड़ागाड़ी आदि चलाना कतई मना है। शहरों में 'साइकिल ट्रैक' सड़क के किनारे अलग होते हैं। खास करके वड़ी सड़कों पर—लंबे रास्तों पर—ही कहीं-कहीं अलग ही साइकिल के 'ट्रैक' दिये होते हैं।

शहरों में आदमियों के रास्ते पार करने की खास जगह वनी होती है। वहां किसी भी गलती से दुर्घटना होती है तो मोटरवाला दोषी माना जाता है। वहां विगझंग सफेदी से रास्ता 'मार्क' किया होता है। साधारण क्रासिंग भी दी होती है। और अन्य जगह भी लोग पार कर लेते हैं, पर कानूनन यह गुनाह है। यूरोप में, ख़ासकर जर्मनी में, दंडित कर देते हैं। पुलिस उसी समय बुलाकर दंडित कर देती है। सड़क पर जो पुलिसमैन होता है, उसको अधिकार होता है कि इतना दंड (करीव पांच रुपये तक का) वह जनता को

या मोटरवाले को वहीं दे सकता है। उसी समय रसीद देकर काम चुकता कर देता है। रुपये नहीं हों तो चौकी में जाकर दे आना होता है।

मोटरों के आने-जाने के लिए जैसे यात्रियों के लिए निशानी होती है, उसी तरह पैदल चलनेवालों के लिए भी मुख्य सड़कों पर निशानियां वनी होती हैं। शुरू-शुरू में इन्हें देखने की आदत नहीं रहती।

इंग्लैंड में मोटरें वायीं तरफ चलाते हैं। जव शुरू-शुरू में यूरोप में गाड़ी लेकर उतरा तो रात का समय हो गया था। दाहिनी तरफ कैसे चलावेंगे, मन में थोड़ा भय था। थोड़ा आश्चर्य होता था। कभी-कभी मन में गफलत भी होता थी, लेकिन अधिक कठिनाई नहीं हुई। इसका कारण यह भी हो सकता है कि मैं वीच में चलाने का आदी होने से वायें गया क्या, और दाहिने गया क्या, मुझे विशेष फरक नहीं पड़ा। भारत में बीच में चलाने का इतना लाभ अवश्य मिला। फिर भी कई दिनों तक कभी-कभी गलती कुछ सेकण्ड के ही वास्ते होती, लेकिन खतरा टल जाता रहा। सावित्री से कह रखा था कि वह कहती रहे 'कीप टु दि राइट'। फिर तो सिर्फ 'राइट' कहने से ही काम हो जाता था। मैं ही मन में दुहरा लिया करता था। वायीं तरफ मुड़ने में गलती होने की अधिक गुंजायश रहती है। उसे संभाल लिया और अपनी गाड़ी को दाहिनी ओर रास्ते पर देखते रहे तो गफलत नहीं होती। बीच में चलाते रहनें से सामने से गाड़ी आने पर असमंजस में आदमी पड़ जाता है।

अच्छे रास्तों पर उसके उतार-चढ़ाव और घुमाव की वनावट में भी फेर-वदल कर देते हैं, जिससे खतरा कम हो और तेजी को विशेष कम न करना पड़े।

यहां पेट्रोल के पंप सड़कों पर एकदम आमने-सामने भी होते हैं। पहले-पहल लगता था कि ऐसा क्यों ? एक ही जगह एक ही कंपनी के दो पंप, पर वाद में जाना कि जो गाड़ी जिधर जाती है वह अपनें वाजू के पंप पर ही पेट्रोल लेगी, घुमाकर दूसरी तरफ जाकर समय नष्ट नहीं करेगी।

छोटी-मोटी तो और कई बातें लिखी जा सकती हैं, लेकिन पत्र यों ही काफी लंवा हो गया इसलिए यहीं खत्म करता हूं। आपका स्वास्थ्य अच्छा होगा। हम लोग यहां एक प्रकार का निसर्गोपचार ही ले रह हैं। दस-एक

रोज और रहेंगे। फिर कुछ जर्मनी जाकर रूस चले जायंगे। पत्र का उत्तर देनें की जरूरत नहीं। आपके मनोरंजन के लिए ही लिखा है। आप कुछ लिखना चाहें तो राम को लिख दीजियेगा, वह भिजवा देगा।

हमारा स्वास्थ्य अच्छा है। यहां कुछ लाभ भी हुआ लगता है। अनुभव तो इतने हुए हैं पर लिखने की आदत नहीं। आपने क्या तो घास खुदवाई, चर्खा चलवाया, रोटी पकवाई या झाड़ू लगवाई, अब कलम चलानी कहां से आवे। मन में तो बहुत आता है, पर लिखन का आलस्य भी है। विशेष कुशल, हम दोनों के प्रणाम!

आपका खूंट से बंधा बैल (रस्सी मेरी इलास्टिक है)

कमलनयन

गया, ४-९-५४

राम,

कमलनयन के दोनों पत्र मिले। पंडितजी को वह काम की बातें लिखता है और मेरे लिए मनोरंजन की। पर उसका मुझे उतना लंबा पत्र अपने अक्षरों को संभालकर लिखने का शायद यही पहला मौका है। वह लिखता है, 'रस्सी मेरी इलास्टिक है'। उसको लिखो, वह मैंने ही इलास्टिक रखी है ताकि बैल को रस्सी की लंबाई का अंत देखने का मोह न हो। लिखने की आदत हमने उसको डाली नहीं यह भी उसका कहना गलत है। जहां दस उंगलियों से काम करना सिखाया गया, वहां तीन उंगलावाला उसमें आ ही गया।

उसका स्वास्थ्य अच्छा जानकर खुशी हुई। पर वजन कितना घटा? यह जबतक मालूम नहीं होता तबतक उसके स्वास्थ्य का भरोसा मुझे नहीं आता।

जमनालालजी की डायरी में संपत्ति-दान आंदोलन की कल्पना मिलती है, इस बारे में तुमने जो लिखा है वह मेरे लिए नई जानकारी थी। पर उसका मुझे आश्चर्य नहीं हुआ; क्योंकि वह चीज़ उनके जीवन में थी। और आज मेरे काम में जहां भी वह होंगे वहां से उनका सपोर्ट मिल रहा है; इसमें मुझे कोई शंका नहीं है।

०००

विनोबा

शायद तुम जानते हो नारायण देसाई जयप्रकाशजी की सूचनानुसार और मेरी सम्मति से बंवई में काम कर रहा है। उनसे कभी मिल लो और वातें कर लो।

माताजी को किसी नये काम पर कोई नियुक्त कर ही नहीं सकता। उनके जिम्मे कूप-दान का काम पड़ा ही है। कम-से-कम हर दस एकड़ ज़मीन के पीछे एक कुआं वनाना है। माताजी के इस जन्म के लिए वह कार्य पर्याप्त है।

गोला गोकरणनाथ की जो प्रसादी तुमने हासिल की थी उससे मुक्ति मिली कि नहीं?[1]

विनोवा के आशीर्वाद

नई दिल्ली, १-१०-५८

पूज्य विनोवाजी,

सादर प्रणाम! भाई राधाकृष्णजी ने बंगलोर आश्रम के वारे में वल्लभस्वामी के साथ आपकी जो चर्चा हुई उसका सारांश मुझको कहा और तिवारी स्टेट (बंगलोर) को कई कारणों से ले लिया जाय तो आपको ठीक लगेगा, यह भी कहा। आपका यह भी कहना रहा कि हमें तो तुरन्त कार्य को शुरू करना चाहिए और वाद में जैसे कार्य वढ़ता जायगा, जगह भी वढ़ती जायगी और जनता आवश्यकतानुसार उसकी पूर्ति करेगी। यहां भूदान, ग्रामदान, शान्ति-सेना आदि कार्यों की दृष्टि से आपके विचारों से मैं सहमत हूं, लेकिन आश्रम, जिसकी मैंने कल्पना आपके सामने रखी है, उस जगह का परिवर्तन होना मेरी दृष्टि से अनुकूल नहीं होगा, न उसमें हमको सफलता मिल सकती है। महात्माजी के चलाये हुए आश्रमों का स्मरण उन्हीं जगहों में हो सकता है और उसके प्रति जो भावना चिरकाल तक वनी रह सकती है वह नवीन दूसरे स्थानों में आना असंभव नहीं, तव भी कई गुना अधिक मुश्किल जरूर है। इसी तरह आपके जीवन-काल में जहां आप रह चुके हैं,

---

१. गोला में हमारी शक्कर की मिल है। शक्कर की ही बीमारी मुझे होने के कारण विनोद में ऐसा पूछा है।

२६

वे आश्रमों के स्थान वन सकते हैं या जिन आश्रमों को आपके न रहते हुए भी आपका आशीर्वाद प्राप्त हो चुका है और वहां मौका मिलने पर रहने की आपकी इच्छा भी थी, लेकिन भविष्य में जाकरके संभव न भी हो सकी तव भी वह स्थान आपके जीवन-काल की स्मृति को लेकर और उसके प्रति जनता में भावना भी हो सकती है। परन्तु यदि वह स्थान आपके जीवनकाल के वाद में परिवर्तन होनेवाला हो तो जो कल्पना कम-से-कम आश्रम की मैंने की थी और जिसको आपने पसन्द किया था, उसमें मूलतः फरक हो जाता है। इस विचार को लेकर मैंने एक पत्र का मसविदा वनाया है कुछ मित्रों को भिजवाने की दृष्टि से। उसमें जहां तक मेरा खयाल है आपके सामने जो चर्चा मैंने की थी उसका सारांश अच्छी तरह से आ जाता है। उसमें कुछ फरक करन की आवश्यकता आपको लगे तो मुझे अवश्य सुझायें। वैसे आपकी जानकारी के लिए ही यह भिजवा रहा हूं।

इस पत्र की नकल तथा मसविदा की एक प्रति वल्लभस्वामीजी को उनकी जानकारी के लिए भिजवा रहा हूं।

आपका
कमलनयन वजाज

मसविदा इस प्रकार है:

नई दिल्ली, ११-४-५८

करीव ६ महीने से पू० विनोवाजी से मैं चर्चा कर रहा था। मुझे ऐसा विचार आया कि गांधीजी के आचार-विचार और उनके साहित्य की तरह ही पूज्य विनोवाजी के भी जीवन-कार्य का अनुसन्धान करते हुए उनकी विचार-धारा का प्रचार-प्रसार-कार्य योजनावद्ध रूप में करने के लिए सर्वोदय-समाज और सर्व-सेवा-संघ उद्यत हैं ही। इससे विचार-क्रान्ति द्वारा सामयिक कीमतों में मूलभूत परिवर्तन और मानवीय जीवन में प्रेमपूर्ण अभिवर्द्धन कराने के लिए सजीव क्रान्ति का हृदयस्पर्शी दर्शन करानेवाला आन्दोलन तो चल ही रहा है। इस तरह के वैचारिक तथा आचारिक आन्दोलन सत्य, अहिंसा और प्रेम के जरिये कहां तक सफल हो सकेंगे यह तो उनकी निर्दोषता पर निर्भर रहेगा और भविष्य ही उसका सच्चे मानों में लेखा-जोखा ले

सकेगा। आज मैं आपको जो लिख रहा हूं वह इस आन्दोलन के लिए नहीं। वह सफल हो तो बहुत अच्छा। परन्तु अर्धवट होकर रह जाय या गलत रास्ते जाकर बिखर-सा जाय तो उसकी फिक्र मैं अभी नहीं कर रहा हूं। मैं तो यह चाहता हूं कि इस तरह के आन्दोलन तो चाहे चलें या मिट जायं, पर भारतवर्ष में ऐसे कई स्थानों की आवश्यकता है जहां का वातावरण रमणीय हो, पवित्रता का जहां वास हो, शान्ति और प्रसन्नता जहां की प्रकृति में समाई हो। ऐसे सुन्दर स्थानों में से कम-से-कम एक जगह तो पूज्य बापू के और विनोबाजी के विचार, साहित्य, जीवन-कार्य के अध्ययन, चिन्तन-मनन, अनुभव करने के लिए, सीखने-सिखाने, समझने-समझाने के लिए और अपने जीवन में उतारने के लिए अनुकूल वातावरण के साथ आश्रम की स्थापना की जाय। यह आश्रम सर्वोदय आन्दोलन और कार्य-प्रणाली से हमदर्दी रखेगा, उसमें विचार की पूर्ति करेगा परन्तु उन आन्दोलनों में खप नहीं जायगा। वह विश्व के मुमुक्षु, गांधी-विनोवा-विचार को माननेवाले भक्तों के लिए अन्तर्राष्ट्रीय स्थान होगा। इन महापुरुषों के जीवन में से प्राप्त करने के लिए साहित्यकार, कलाकार, इंजीनियर, डाक्टर, ग्राम-सेवक, मानवीय जीवन के किसी भी अंग-प्रत्यंग को लेकर आनेवाले लोगों को साधन-सामग्री के अलावा आचार, विचार और प्रोत्साहन-प्रेरणा के लिए समुचित सामग्री वहां सुलभ होनी चाहिए और वातावरण अनुकूल।

शंकराचार्य, रामानुजाचार्य, वल्लभाचार्य और माधवाचार्य गुरुओं के मठ या आश्रम कहो, हजारों वर्षों से यहां चलते आये हैं और वहां पर एक परंपरा, परिपाटी और उसके तत्वज्ञान को समझने-समझाने और अध्ययन करने के लिए अनुकूल वातावरण रहा है। उन मठों में कई तरह की खराबियां भी आ गई हैं। उनको तो दूर करने का प्रयत्न किया ही जाना चाहिए, लेकिन उन खराबियों के बावजूद भी जो एक बाह्य स्वरूप ऐसे गुरुओं का उन मठों में आज भी दिखाई देता है उसकी भी ऐतिहासिक और तात्त्विक दृष्टि से काफी कीमत है। गांधीजी और विनोबाजी ने भी आश्रम चलाये और राष्ट्रीय आन्दोलनों की बदौलत स्वराज्य के यज्ञ में उन आश्रमों की पवित्र आहुति उन्होंने चढ़ाई। यह उनका सर्वस्व दान या अपरिग्रह और निर्मोह का अन्तिम लक्षण ही क्यों न हो, राष्ट्र की परिस्थिति और आन्दोलनों

के झुकावों को देखते हुए उन्होंने जो कुछ किया वह उपयुक्त ही हो सकता है। फिर भी, समाज के ऊपर यह जवावदारी रह ही जाती है कि इस तरह के युगपुरुषों के जीवन-दर्शन और उनके कार्य का अनुसरण एवं उनके तात्विक विचारों का अध्ययन करने के लिए ऐसे स्थान और आश्रम वनाये जायं जो कि सामयिक आन्दोलनों से अछूते रहकर सैकड़ों और हजारों वर्ष तक, हो सके तो उस परिपाटी और परंपरा को सम्भाले हुए निभाते चले जायं। हो सकता है कि उन महान आत्माओं के वाह्य स्वरूप मात्र का ही ढांचा यह वन पाये। इतना ही यदि हम कर सकें और आनेवाली पीढ़ियों के लिए युग-प्रवर्तक इन महान आत्माओं के जीवन में से ग्रहण करने योग्य परिस्थिति और वातावरण, चाहे कुछ ही अंशों में सही, हम उपलब्ध करा सकें तो यह भी एक महान कार्य ही होगा।

पूज्य विनोवाजी ने इस तरह का एक आश्रम दक्षिण में बंगलोर के पास खोलने के लिए अपनी अनुमति दी है और साथ ही अपना आशीर्वाद भी दिया है। उनके शिष्यों में से कुछ लोग वहां रहकर इस कार्य की जिम्मेदारी भी उठायेंगे। वहां १०० एकड़ के करीव एक भूमि को मैंने देखा भी है और जहां पर पानी आदि की काफी सहूलियत है और आश्रम के लिए वहां का वातावरण अनुकूल, सुन्दर और निर्मल वन सकता है। उस भूमि को लेने के विषय में मैंने कोशिश आरंभ कर दी है। करीव एक लाख रुपया उसकी कीमत शायद चुकानी पड़े। आसपास में अन्य दूसरी भूमि भी शायद वाद में लेनी पड़े परन्तु उसकी कोई विशेष कीमत नहीं होनी चाहिए। इसके अलावा जो कुछ मकानात वहां पर वुरी हालत में हैं उनकी दुरुस्ती, पानी के टैंक अथवा छोटे तालाबों की मरम्मत, कंपाऊंड आदि डालना, आवश्यक नये मकानात, सड़कें आदि वनाना, खेती में जो ज़मीन है उसको वढ़िया करना और नई जमीन को खेती और वाग-वगीचे के लिए तोड़ना आदि सारा कार्य पड़ा है जिसमें खर्च भी विशेष होगा। कुल रकम कितनी लगेगी, कहना मुश्किल है, फिर भी पांच-एक लाख जुटा ही लेना चाहता हूं। मैं आपको किसी संकोच में नहीं डालना चाहता। इसमें आप कुछ न दे सकें तव भी मुझे वुरा लगने का तो सवाल है ही नहीं। इस कार्य की जिम्मेदारी मैंने सहर्ष खुद ही उठाई है और उसको पूरा करने में मुझे तो अपनी

सारी शक्ति लगानी ही है। इस कार्य के लिए जितना भी परिश्रम मुझे करना पड़े उतना ही विशेष समाधान मुझे होगा। इस शुभ संकल्प को निभाने के लिए आप मेरा कुछ बोझ हल्का करें, यह मैं नहीं चाह रहा हूं। लेकिन जिन मित्रों से ताल्लुक रहा है उनको भी इस पुण्य प्रसाद में कुछ हिस्सा मिले, ऐसा मन में लगता है या उसका मोह हो जाता है, ऐसा ही समझिए।

कमलनयन वजाज

वड़ोदा, ७-१०-५८

कमलनयन,

१-१०-५८ का पत्र मिला। उसके साथ मित्रों के लिए भेजने का मसविदा भी देखा। जिस दृष्टि से तुम देखते हो वह उचित ही है। मसविदा भी ठीक है। मैं तुम्हारे उत्साह को कम नहीं करना चाहता, क्योंकि उसमें मुझे कुछ भगवान की प्रेरणा-सी मालूम हो रही है।[1]

विनोबा का जयजगत्

१. विनोबा का यह पत्र आने पर मेरी जिम्मेदारी इतनी बढ़ गई कि मैं मसविदा मित्रों को नहीं भेज सकता। इस कार्य को अपनी ही जिम्मेदारी पर पूरा करने का प्रयास कर रहा हूं। बीस लाख से ऊपर रकम और खर्च उसमें लग गया है। और भी लगेगा।

परिशिष्ट : एक

०००

परस्परं भावयन्तः

१

मार्ग-दर्शक की खोज

जीवन सेवामय, उन्नत, प्रगतिशील, उपयोगी और सादगी-युक्त हो, यह भावना जब से मैंने होश संभाला तब से, अस्पष्ट रूप से मेरे सामने थी। इसी की पूर्ति के हेतु, सामाजिक, व्यापारिक, सरकारी और राजकीय क्षेत्रों में कुछ हस्तक्षेप करना मैंने प्रारम्भ किया। सफलता मेरे साथ थी। पर मुझे सदा यह विचार भी बना रहता था कि जीवन की संपूर्ण सफलता के लिए किसी योग्य मार्ग-दर्शक का होना जरूरी है। मैंने अपने विविध कार्यों में लगे रहने पर भी इस खोज को चालू रखा। इसी मार्गदर्शक की खोज में मुझे गांधीजी मिले; और सदैव के लिए मिल गए।

मार्ग-दर्शक की खोज में मैंने भारत के अनेक व्यक्तियों से संपर्क स्थापित किया। महामना मालवीयजी, कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर, सर जे० सी० बोस, लोकमान्य तिलक आदि अनेक नेताओं तथा व्यक्तियों से मैंने कम-अधिक परिचय प्राप्त किया। उनके संपर्क में रहा। उनके जीवन का निरीक्षण किया। मेरी इस खोज में एक बात ने मेरे दिल पर सबसे बड़ा असर कर रखा था। वह थी समर्थ रामदासजी की उक्ति : 'बोले तैसा चाले, त्याची वंदावी पांउलें।' अनेक नेताओं से मेरा परिचय होने पर मुझे उनके जीवन में मेरे इस सिद्धान्त की प्राप्ति जिस परिमाण

में होनी चाहिए, नहीं हुई। भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के भिन्न-भिन्न गुणों का मुझ पर असर पड़ा। सबके प्रति मेरी श्रद्धा और आदर भी बना रहा। पर अपने जीवन के मार्ग-दर्शक के स्थान पर किसी को आसीन नहीं कर सका।

जब मैं मार्ग-दर्शक की खोज में था तब गांधीजी दक्षिण अफ्रीका में सेवा-कार्य कर रहे थे। उनके विषय में समाचारपत्रों में जो आता उसे मैं गौर से पढ़ता था, और यह स्वाभाविक इच्छा होती थी कि यदि यह व्यक्ति भारत में आवे तो उससे संपर्क पैदा करने का अवश्य प्रयत्न किया जाय। सन १९०७ से १९१५ तक इस खोज में मैं रहा; और जब गांधीजी ने हिन्दुस्तान में आकर अहमदाबाद के कोचरब मोहल्ले में, किराये का बंगला लेकर, अपना छोटा-सा आश्रम आरंभ किया, तब उनसे परिचय प्राप्त करने के हेतु मैं तीन बार वहां गया। उनके जीवन को मैं बारीकी से देखता। उस समय वह अंगरखा, काठियावाड़ी पगड़ी और धोती पहनते थे। नंगे पैर रहते थे। स्वयं पीसने का काम करते थे। स्वयं पाक-गृह में भी समय देते थे। स्वयं परोसते थे। उनका उस समय का आहार केला, मूंगफली, जैतून का तेल और नींबू था। उनकी शारीरिक अवस्था को देखते हुए उनके आहार की मात्रा मुझे अधिक मालूम होती थी। आश्रम में प्रातः-सायं प्रार्थना होती थी। सायंकाल की प्रार्थना में मैं सम्मिलित होता था। गांधीजी स्वयं प्रार्थना के समय रामायण, गीता आदि का प्रवचन करते थे। मैंने उनकी अतिथि-सेवा और बीमारों की शुश्रूषा को भी देखा, और यह भी देखा कि आश्रम की तथा साथियों की छोटी-से-छोटी बात पर उनका कितना ध्यान रहता है। आश्रम के सेवा-कार्य में रत और निमग्न कस्तूरबा को भी मैंने देखा। गांधीजी ने भी मेरे बारे में पूछताछ करना आरंभ किया। धीरे-धीरे संपर्क तथा आकर्षण बढ़ता गया। ज्यों-ज्यों मैं उनके जीवन को समालोचक की एक सूक्ष्म दृष्टि से देखने लगा, त्यों-त्यों अनुभव होने लगा कि उनकी उक्तियों और कृतियों में समानता है और मेरे 'बोले तैसा चाले' इस आदर्श का वहां अस्तित्व है। इस प्रकार संबंध तथा आकर्षण बढ़ता गया।

महात्माजी के कार्य में मैं अपने-आपको विलीन हुआ पाने लगा। वह मेरे जीवन के मार्ग-दर्शक ही नहीं, पिता-तुल्य हो गए। मैं उनका पांचवां पुत्र बन गया।

आज २४ वर्ष से अधिक समय व्यतीत हो गया, जबसे मैं महात्माजी के संपर्क में हूं। इन वर्षों में मैंने उनके जीवन के समस्त क्षेत्रों का अवलोकन किया। मैं उनके सहवास में घूमा, उनके आश्रम-जीवन में भी रहा, उनके उपवासों में उनके निकट रहा, बीमारियों के समय उनकी शुश्रूषा में भाग लेता रहा। उनकी अनेक गहन मंत्रणाओं का मैं साक्षी हूं, और उनके सार्वजनिक कार्यों का भार मैंने शक्ति भर उठाया। सारी अवस्थाओं में उनके अनेक गुणों का मुझपर असर होता ही गया। मेरी श्रद्धा बढ़ती गई। मैं अपने-आपको उनमें अधिकाधिक विलीन करता ही गया। और आज तो वह मेरे आदर्श हैं, और उनकी आज्ञा मेरा जीवनादर्श है। उनका प्रेम मेरा जीवन है।

महात्माजी में अनेक अलौकिक गुण हैं। इस प्रकार के शब्दों से मैं अपने हृदय के सच्चे भाव प्रकट कर रहा हूं। पर विरोध की आशंका न करते हुए इतना तो अवश्य कह सकता हूं कि उनमें

मनुष्योचित गुणों का बहुत बड़ा समुच्चय है। मानवीय गुणों के तो वह हिमालय हैं। उनकी नियमितता, सार्वजनिक हिसाब रखने की सूक्ष्मता, बीमारों की शुश्रूषा, अतिथियों का सत्कार, विरोधियों के साथ सद्व्यवहार, विनोद-प्रियता, आकर्षण, स्वच्छता, बारीक निगाह और दृढ़ निश्चय आदि गुण मुझे उत्तरोत्तर प्रकट होते दिखाई दिये हैं। महात्माजी में मैंने विरोधी गुण भी देखे हैं। उनकी अविचल दृढ़ता, कठोरता अगाध प्रेम और मृदुता की बुनियाद पर खड़ी है। उनकी पाई-पाई की कंजूसी महान उदारता के जल से सिंचित है और उनकी सादगी सौंदर्य से पोषित है।

महात्माजी के प्रति अगर मेरा खाली आदर-भाव ही रहता तो उनके विषय में कुछ विशेष लिख सकता। पर महात्माजी ने मुझे इस तरह से अपनाया है कि उनके प्रति मेरे मन में पिता और गुरु के समान ही भाव पैदा होता है।

बचपन से ही सार्वजनिक जीवन से प्रेम होने के कारण बहुत से सरकारी प्रतिष्ठित कर्मचारियों तथा देश के प्रख्यात नेतागणों से मेरा परिचय हुआ। पूज्य लोकमान्य तिलक महाराज और भारत-भूषण मालवीयजी जैसे महान पुरुषों का परिचय मेरे लिए लाभदायक हुआ। लेकिन महात्माजी ने तो मेरी मनोभूमिका ही बदल दी। मेरे मन में कई बार त्याग के विचार पैदा हुआ करते थे। उन्हें कार्यरूप में लाने का रास्ता बता दिया। उनका निर्मल चारित्र्य, शीतल तेजस्विता, गरीबों की ललक, मनुष्य मात्र से सत्य-व्यवहार, अनुपम प्रेम और धर्म-श्रद्धा देखकर ही मेरा मन उनकी ओर खिंचता चला गया। मेरे जीवन की त्रुटियां मुझे दिखाई देने लगीं और यह महत्वाकांक्षा बढ़ने लगी कि इस जीवन में किस तरह महात्माजी के सहवास के योग्य बन सकूं!

मेरी राय में आज भारत में गरीबों के साथ यदि कोई एक जीव हुआ है तो वह महात्माजी हैं। महात्माजी मानो कारुण्य की मूर्ति हैं। गरीबों के कष्ट दूर करने में अमीरों के साथ भी अन्याय न होने पावे, और भिन्न-भिन्न वर्गों के बीच द्वेषभाव तनिक भी पैदा न हो, इसकी वह हमेशा चिन्ता रखते हैं। इसीलिए भारतवर्ष के सब धर्म, पंथ और वर्ग के लोग उनको आत्मीयता की दृष्टि से देखते हैं। चातुर्वर्ण्य का तो मानो उनमें सम्मेलन ही हुआ है। भारतवर्ष पर उनका जो असीम प्रेम है उसके लायक यदि हम भारतवासी बनें तो भारत का उद्धार अवश्य हो जाय।

मेरी समझ में तो महात्माजी का सहवास जिसने किया हो या उनके तत्वों को समझने की कोशिश की हो, वह कभी निरुत्साही नहीं हो सकता। वह हमेशा उत्साह पूर्वक अपना कर्तव्यपालन करता रहेगा। क्योंकि देश की स्थिति के सुधरने में, स्वराज्य मिलने में, भले ही थोड़ा विलम्ब हो, परन्तु जो व्यक्ति महात्माजी के बताये मार्ग से कार्य करता रहेगा, मुझे विश्वास है कि वह अपनी निजी उन्नति तो जरूर कर लेगा, अर्थात अपने लिए तो स्वराज्य वह अवश्य पा सकता है।

मुझे अपनी कमजोरियों का थोड़ा ज्ञान रहने के कारण मैंने बापू को 'गुरु' नहीं बनाया, न गुरु माना; 'बाप' अवश्य माना है। वह भी इसलिए कि शायद उन्हें बाप मानने से मेरी कमजोरियां हट जावें।

महात्माजी की अनुपम दया से आज मैं कम-से-कम अपनी कमजोरियों को थोड़ा-बहुत तो पहचानने लग गया हूं।

जिस दिन मैं महात्माजी के पुत्र-वात्सल्य के योग्य हो सकूंगा वही समय मेरे जीवन के लिए धन्य होगा।

जमनालाल बजाज

○

२

'पांचवें पुत्र बने'

जमनालालजी मेरे पांचवें पुत्र बने। इस स्वेच्छा से गोद आये पुत्र ने कितना कुछ किया इसका पता बहुत कम लोगों को होगा। मैं कह सकता हूं कि इससे पहले किसी मनुष्य को ऐसा पुत्र नसीब नहीं हुआ होगा।

जमनालालजी ने बिना किसी संकोच के अपने-आपको और अपने सर्वस्व को मुझे समर्पित कर दिया था। मेरा शायद ही कोई ऐसा काम होगा, जिसमें मुझे उनका हार्दिक सहयोग न मिला हो, और जो अत्यंत कीमती साबित न हुआ हो।

उन्होंने मेरे कामों को पूरी तरह अपना लिया था। यहां तक कि मुझे कुछ करना ही नहीं पड़ता था। ज्यों ही मैं किसी नये काम को शुरू करता, वह उसका बोझा खुद उठा लेते थे। इस तरह मुझे निश्चिंत कर देना मानो उनका जीवन-कार्य ही बन गया था।

मेरी इच्छाओं की पूर्ति के लिए मैं आसानी से उनपर भरोसा कर सकता था, कारण कि जितना उन्होंने मेरे काम को अपना लिया था, उतना शायद ही और कोई अपना पाया होगा।

उनकी बुद्धि कुशाग्र थी। वह सेठ थे। उन्होंने अपनी पर्याप्त संपत्ति मेरे हवाले कर दी थी। वह मेरे समय और मेरे स्वास्थ्य के संरक्षक बन गए। और यह सब उन्होंने सार्वजनिक हित की खातिर किया।

वह बुद्धिशाली भी थे और व्यवहार-कुशल भी। वह अपनी जगह पर अद्वितीय थे।

वह जिस काम को हाथ में लेते थे उसमें जी-जान से जुट जाते थे।

खादी के काम में उनकी दिलचस्पी मुझसे कम न थी। खादी के लिए जितना समय मैंने दिया उतना ही उन्होंने भी दिया। इस काम के पीछे उन्होंने मुझसे कम बुद्धि खर्च नहीं की थी। थोड़े में यह कह लीजिए कि अगर मैंने खादी का मंत्र दिया तो जमनालालजी ने उसको मूर्त्त-रूप दिया।

जमनालालजी में छुआछूत को हटाने, सांप्रदायिकता से दूर रहने और सब धर्मों के प्रति समान आदरभाव रखने की जो उत्कृष्ट वृत्ति है, वह उन्हें मुझसे नहीं मिली है। कोई भी व्यक्ति अपने विश्वास दूसरों को नहीं सौंप सकता। हां, यह हो सकता है कि जो विश्वास दूसरों में पहले से मौजूद हों उन्हें प्रकट करने में कोई सहायक हो सके। किन्तु जमनालालजी के उदाहरण में तो मैं यह श्रेय भी नहीं ले सकता कि मैंने उन्हें इन विश्वासों को प्राप्त करने या उन्हें प्रदर्शित करने में

सहायता पहुंचाई है। मेरे संपर्क में आने से बहुत पहले ही उनके वे विश्वास बन चुके थे। और उन्होंने उनका अनुकरण करना शुरू कर दिया था। उनके इन आंतरिक विश्वासों की बदौलत ही हम एक-दूसरे के संपर्क में आये और हमारे लिए इतने सालों तक घनिष्ठ सहयोग के साथ काम करना संभव हुआ।

जिसको राजकाज कहते हैं वह न मेरा शौक था न उनका। वह उसमें पड़े, क्योंकि मैं उसमें था। लेकिन मेरा सच्चा राजकाज तो था रचनात्मक-कार्य, और उनका भी राजकाज यही था।

वह एक ऐसी साधना में लगे हुए थे जो कामकाजी आदमी के लिए विरल है। विचार-संयम उनकी एक बड़ी साधना थी। वह सदा ही अपने को तस्कर विचारों से बचाने की कोशिश में रहते थे।

जब कभी मैंने यह लिखा है कि धनवानों को सार्वजनिक हित के लिए अपनी संपत्ति का ट्रस्टी या संरक्षक बन जाना चाहिए, तो मेरे दिमाग में सेठ जमनालालजी का उदाहरण मुख्य रूप से रहा है।

अगर उनका ट्रस्टीपन आदर्श तक नहीं पहुंच पाया तो इसमें कसूर उनका नहीं था। मैंने जानबूझकर उन्हें रोका। मैं यह नहीं चाहता था कि वह अपने उत्साह या आवेश में कोई ऐसा कदम उठायें, जिसके लिए ठंडे दिमाग से सोचने पर उन्हें अफसोस करना पड़े। उनकी सादगी खुद उनकी ही विशेषता थी।

जहां तक मुझे मालूम है मैं दावे से कह सकता हूं कि उन्होंने अनीति से एक पाई भी नहीं कमाई, और जो कुछ कमाया उसे उन्होंने जनता-जनार्दन के हित में ही खर्च किया।

जबसे वह पुत्र बने तबसे वह अपनी समस्त प्रवृत्तियों की चर्चा मुझसे करने लगे थे। अंत में जब उन्होंने गो-सेवा के लिए फकीर बनने का निश्चय किया तो वह भी मेरे साथ पूरी तरह सलाह-मशविरा करके ही किया।

त्याग की दृष्टि से उनका अंतिम कार्य सर्वश्रेष्ठ रहा। देश के पशुधन की रक्षा का कार्य उन्होंने अपने लिए चुना था, और गाय को उसका प्रतीक माना था। इस काम में वह इतनी एकाग्रता और लगन के साथ जुट गए थे कि जिसकी कोई मिसाल नहीं।

होना यह चाहिए था कि मैं उनके लिए अपनी विरासत छोड़कर जाता, पर उसके बदले में वह अपनी विरासत मेरे लिए छोड़ गए।

यह मैं कैसे कहूं कि उनके जाने से मुझे दुख नहीं हुआ। दुख होना तो स्वाभाविक था। क्योंकि मेरे लिए तो वही मेरी कामधेनु थे। लेकिन जब उनके कामों को याद करता हूं और हमारे लिए जो संदेश छोड़ गए हैं उसका विचार करता हूं तो अपना दुख भूल जाता हूं।

मो० क० गांधी

३

गुरु विनोबा

विनोबा का प्रवचन बहुत ही मनन योग्य हुआ। मन पर उसका अच्छा असर हुआ।

विनोबा से मन की स्थिति के बारे में बातचीत हुई।

विनोबाजी की संगत से बहुत सुख, शांति व लाभ मिला है।

मुझे विनोबा के संसर्ग में अधिक रहना चाहिए। उसीसे मेरा मार्ग साफ व निष्कलंक हो सकेगा और जीवन में असली उत्साह प्राप्त हो सकेगा।

विनोबा के प्रति दिनों-दिन श्रद्धा बढ़ती ही जाती है। परमात्मा मुझे इस देह से इस श्रद्धा के योग्य बना सकेगा, तो वह दिन मेरे लिए धन्य होगा। मुझे दुनिया में बापू पिता व विनोबा गुरु का प्रेम दे सकते हैं अगर मैं अपने को उनके योग्य बना सकूं तो!

जमनालाल बजाज

●

४

जमनालालजी का मेरा संबंध

या तो अव्यक्त शोभेगा या सुव्यक्त शोभेगा, यथा-तथा व्यक्त नहीं शोभेगा। मेरी राय में पहला उत्तम है, दूसरा मध्यम है। तीसरा कनिष्ट पक्ष का आश्रय तो हमें लेना ही नहीं चाहिए।

धूलिया (जेल) में जो प्रेम-संबंध स्थापित हो गया वह जन्म-भर के लिए बंध गया।

जमनालालजी निरंतर अपना आत्म-परीक्षण करते रहते थे। वह गुण दुनिया भर की दौलत से अधिक मूल्यवान है।

"आपके हाथ से आजतक जितनी सेवा हुई है, उससे कहीं अधिक सेवा भगवान को आपसे लेनी है, ऐसी मेरी श्रद्धा है। पिछले साल आपको जो शारीरिक यातनाएं भोगनी पड़ीं, उन्हें आगे

की सेवा का मैं पूर्व चिह्न समझता हूं। भगवान की दया अद्भुत है। उसका यथार्थ ज्ञान किसे हो सकता है? किंतु हमें उस ज्ञान की आवश्यकता भी नहीं है। श्रद्धा ही पर्याप्त है।"

देह आत्मा के विकास के लिए है, परन्तु जिनका आत्मा विशेप उन्नत हो जाता है, उनके विकास के लिए देह में पर्याप्त गुंजाइश नहीं होती। उनका वह विशाल आत्मा देह के माप में समाता नहीं। तव देह को फेंक कर देह-रहित अवस्था में ऐसे आत्मा अधिक सेवा करते हैं। ऐसी स्थिति जमनालालजी की हुई है। कम-से-कम मैं तो देख रहा हूं कि उन्होंने आपकी और मेरी देह में प्रवेश किया है। ऐसी मृत्यु जीवित मृत्यु है। मृत्यु भी जीवित हो सकती है और जीवन भी मृत हो सकता है। जीवित मृत्यु वहुत थोड़ों की ही होती है। वैसी यह जमनालालजी की मृत्यु है।

विनोवा

●

५

विनोबा-बापू

विनोवा भावे कौन हैं? मेरे हिन्दुस्तान लौटने पर १९१६ में उन्होंने कालेज छोड़ा था। वह संस्कृत के पंडित हैं। आश्रम के सबसे पहले सदस्यों में से वह एक हैं। उनकी स्मरण शक्ति आश्चर्यजनक है। स्वभाव से वह अध्ययनशील हैं। हिन्दुस्तान में हाथ-कताई में इतनी संपूर्णता किसी ने प्राप्त नहीं की जितनी कि उन्होंने की है।

उनके हृदय में छुआछूत की गंध तक नहीं है। सांप्रदायिक एकता में उनका उतना ही विश्वास है जितना की मेरा। वह इतिहास के निष्पक्ष विद्वान हैं। उनके पास उनके शिष्यों और कार्यकर्ताओं का एक ऐसा दल है जो उनके इशारे पर हर तरह का वलिदान करने को तैयार है।

परम पूज्य वापूजी,

एक साल पहले अस्वास्थ्य के कारण आश्रम से वाहर गया था। यह तय हुआ था कि दो-तीन मास वाहर रह कर आश्रम लौट आऊंगा। पर एक साल वीत गया फिर भी मेरा कोई ठिकाना नहीं। इस कारण मैं आश्रम आऊंगा या नहीं, अथवा जीवित भी हूं या नहीं, यह शंका वहां हुई होगी। पर मुझे कवूल करना चाहिए कि इस वारे में सारा दोष मेरा ही है। पर इतना तो लिखना ही चाहता हूं कि आश्रम ने मेरे हृदय में खास स्थान प्राप्त कर लिया है, इतना ही नहीं, अपितु मेरा जन्म ही आश्रम के लिए है, ऐसी मेरी श्रद्धा बन गई है।

२१३

अधिक क्या कहूं ? जब भी सपने आते हैं तभी मन में एक विचार आता है। ईश्वर मुझसे कोई सेवा लेगा ? मैं पूर्ण श्रद्धा से इतना कह सकता हूं कि आश्रम के नियमों के अनुसार मैं अपना आचरण रखता हूं। यानी मैं आश्रम का ही हूं। आश्रम ही मेरा साध्य है।

सत्याग्रह का या दूसरा कोई सवाल पैदा होता हो तो मैं तुरंत ही वहां पहुंच जाऊंगा।

इधर आश्रम में क्या फेर-फार हुए हैं तथा कितने विद्यार्थी हैं ? राष्ट्रीय शिक्षा की योजना क्या है ? मुझे अपने आहार में क्या परिवर्तन करना चाहिए, यह जानने की मेरी प्रबल इच्छा है। आप स्वयं मुझे पत्र लिखें ऐसा विनोबा का—आपको पितृ तुल्य समझनेवाले आपके पुत्र का—आग्रह है।

विनोबा

चि० विनोबा,

समझ में नहीं आता, तुम्हारे लिए कौन-सा विशेषण लगाऊं। तुम्हारा प्रेम और तुम्हारा चरित्र मुझे मोह में डाल देता है। तुम्हारी परीक्षा मुझे मोह में डुवा देती है। मैं तुम्हारी परीक्षा करने में असमर्थ हूं। तुम्हारी की हुई परीक्षा को मैं स्वीकार करता हूं और तुम्हारे लिए पिता का पद ग्रहण करता हूं। मालूम पड़ता है, मेरा लोभ तुमने लगभग पूरा कर दिया। मेरी मान्यता है कि सच्चा पिता अपने से अधिक चरित्रवान पुत्र को जन्म देता है। सच्चा पुत्र वह है, जो पिता के किये हुए में वृद्धि करे। मालूम होता है, तुमने ऐसा ही किया है। मुझे ऐसा तो नहीं दीखता कि यह तुमने मेरे प्रयत्न से किया है। इसलिए तुम जो पद दे रहे हो, उसे तुम्हारे प्रेम की भेंट के रूप में स्वीकार करता हूं। उस पद के योग्य बनने का प्रयत्न करूंगा। और जब मैं हिरण्यकशिपु साबित होऊं, तब भक्त प्रह्लाद की तरह मेरा सादर निरादर करना।

बापू के आशीर्वाद

पूज्य बापूजी की पवित्र सेवा में,

इतने वर्ष मैं वर्धा में नहीं रहा, आपकी आज्ञा में रहा हूं। इस दुनिया में आपके आशीर्वाद के बिना और सब शून्य है। मैं यह कह सकता हूं कि इन बारह वर्षों में व्रतों का पालन करने का मैंने सतत् प्रयत्न किया है। फिर भी अपने में बहुत अपूर्णता पाता हूं। ईश्वर के प्रति मेरी जितनी भक्ति है, उससे कहीं अधिक ईश्वर की कृपा मैंने अपने ऊपर देखी।

मैं जानता हूं कि आपके आशीर्वाद से तो मैं पूरी तरह ओतप्रोत हूं। फिर भी उसीकी याचना करने के लिए यह पत्र लिख रहा हूं। अपने तुच्छ सेवक की संभाल रखिये। आपके महायज्ञ की आहुति बन जाने की पात्रता उसे ईश्वर से दिलाइये। भविष्य के लिए कोई सूचनाएं देनी हों, तो वे भी दीजिये।

विनोबा

चि० विनोवा,

तुम्हारी भक्ति और श्रद्धा आंखों में हर्ष के आंसू लाती है। मैं इस सबके योग्य होऊंगा या न होऊं, परन्तु तुम्हें तो यह फलेगा ही। तुम बड़ी सेवा के निमित्त बनोगे।

वापू के आशीर्वाद

निर्भयता उनका व्रत था। जहां किसी फौज को भी जाने की हिम्मत न हो, वहां अकेले जाने की उनकी तैयारी थी।

जो सत्य है, लोगों के हित का है, वही कहना चाहिए, फिर भले ही किसी को अच्छा लगे, बुरा लगे, या उसका परिणाम कुछ भी निकले, ऐसी उनकी वृत्ति थी।

सज्जनों पर जिस तरह प्रेम करते हैं, वैसे ही दुर्जनों पर भी करो, शत्रु को प्रेम से जीतो, ऐसा मंत्र उन्होंने दिया। उन्होंने ही हमें सत्याग्रह सिखाया। खुद आपत्तियां झेलकर सामनेवालों को जरा भी खतरा न पहुंचे, यह शिक्षा उन्होंने हमें दी। ऐसा पुरुष देह छोड़कर जाता है, तव वह रोने का प्रसंग नहीं होता। मां हमें छोड़कर जाती है, उस समय जैसा लगता है, वैसा गांधीजी के मरने से लगेगा जरूर। लेकिन उससे हममें उदासी नहीं आनी चाहिए।

विनोवा

६

दो आदर्श पुरुष

जमनालालजी और गांधीजी दोनों ने जाति, धर्म आदि किसी प्रकार के भेद न रखते हुए मनुष्य मात्र सब एक हैं, ऐसा समझकर सेवा की। गरीबों में एकरूप होने का निरंतर यत्न किया। 'परहित बस जिनके मन माहीं, तिन कहं जग दुर्लभ कछु नाहीं।'—तुलसीदासजी के इस वचन के अनुसार परहित का आचरण करके दुनिया का सबकुछ उन्होंने साध्य किया। ऐसे ये दो आदर्श पुरुष हमारे सामने ही हो गए।

विनोवा

परिशिष्ट : दो

०००

मेरी समझ में

काकाजी, वापू, विनोवा तीनों का ही पिंड धार्मिक, जीवन आत्मार्थी और प्रवृत्ति सेवार्थी रही है। तीनों का ही आध्यात्मिक विकास का प्रयास और साधना वचपन से ही रही है। सेवा जिसकी करते हैं उसके लिए स्नेह अर्थात भक्ति, करने के लिए कर्म और किस तरह से करना इसके लिए ज्ञान की जरूरत होती है। सेवा, भक्ति, कर्म और ज्ञान का सुन्दर समागम है।

विनोवा के जीवन में संघर्ष नहीं रहा। कर्म, तप और साधना उनके जीवन का आधार ही है। जीवन के सारे संघर्ष उन्होंने मानो पूर्व जन्म में ही कर लिये थे। इंद्रियों पर उनको काबू करना नहीं पड़ा, वह शुरू से ही उनके वश में थीं। यम, संयम, नियम उनका सहज स्वभाव हो गया था। वापू से उनको मार्गदर्शन मिला और काकाजी से व्यवहार ज्ञान।

विनोबा के कोई समकालीन गुरु नहीं रहे। उन्होंने अपना विकास अपने पर निर्भर रहकर, स्वतंत्र रूप से ही किया है। उनके जीवन पर संतों के जीवन और वाङ्मय का

अत्यधिक प्रभाव रहा जिससे वह हमेशा प्रेरणा पाते रहे, आज भी पाते हैं। संतों में ज्ञानेश्वर, आचार्यों में शंकराचार्य और ग्रन्थों में ज्ञानेश्वरी का उनपर सबसे अधिक असर रहा है। वेद, उपनिषद् तथा दुनिया के सभी धर्मग्रंथों का उनका अध्ययन अप्रतिम है। उनका सार वह सिर्फ हजम ही नहीं कर गए, उनके जीवन में भी वह उतर आया है। इस तरह से वह शास्त्रकारों की तरह ज्ञानी और सफल भाष्यकारों की तरह विद्वान भी हैं।

स्वभाव से वह हिसाबी और गणितज्ञ हैं। विज्ञान में उनकी पूर्ण रुचि है; इतना ही नहीं, उसके प्रभाव से वह पूर्णतया भिज्ञ हैं। विज्ञान और आध्यात्म का सुन्दर सामन्जस्य हुए बिना मानव-कल्याण और विश्वशांति नहीं हो सकती, इसका दर्शन विनोबा को ही पहले हुआ। दोनों ही खालिस सत्य की खोज करते हैं और उनमें किसी तरह का विरोधा-भास नहीं है। उनका स्वतंत्र, संपूर्ण अस्तित्व होते हुए भी वे एक-दूसरे के परिपूरक हैं।

विज्ञान में शक्ति है। उसका उपयोग कब, क्यों और कैसे किया जाय इसका दिग्दर्शन करने की औकात आध्यात्म के बिना नहीं आ सकती। इसका सुन्दर विश्लेषण और दिग्दर्शन विनोबा के विचारों और जीवन में अच्छी तरह स्पष्ट होता है।

विनोबा का जीवन प्रशान्त महासागर की तरह गंभीर और शांत है। सागर का उद्वेग, उफान अथवा उछाल उसमें नहीं। उनकी वृत्ति लोक-संग्रह की कभी नहीं रही। उनकी प्रवृत्ति संगठन और संस्था बनाने या चलाने की तरफ कभी नहीं झुकी। उनकी वजह से संगठन बने, संस्थाएं चलीं, विनोबा से उनको मार्गदर्शन मिला, लेकिन विनोबा का व्यक्तित्व उनसे कुंठित या उनके बंधन में नहीं रहा। उनके विचारों से प्रभावित होकर लाखों उनके संपर्क में आये; और हजारों स्त्री-पुरुष उनके निकट रहे हैं उनको दूर करने का प्रयास भी विनोबा ने नहीं किया। बाकी जो छंट गए वे टल गए, और जो चलनी में रह गए वे कम-ज्यादा परिमाण में अब भी जुड़े हुए हैं, खूंटे से बंधे हुए हैं। विनोबा को लोक-संग्रह का आग्रह या उसकी आसक्ति नहीं रही। वह बुद्धि का प्रहार अथवा स्नेह का दबाव भी नहीं होने देते। वह समझाते हैं, किसी भी विषय को हृदय-गम्य और बुद्धिगम्य भी करते हैं, लेकिन हर एक को अपना स्वतंत्र निर्णय लेने के लिए आज़ाद रखते हैं। यह विनोबा की विशेषता और महत्ता है।

बापू के जीवन में शुरू से आखिर तक संघर्ष रहा। इंद्रियों को वश में करना, गलत-परिस्थितियों, कायदे-कानून, रीति-रिवाज का मुकाबला करना यह उनके जीवन का स्वरूप है। उनके जीवन में उद्वेग है, तूफान है, कष्ट है, करुणा है। इससे वह जूझते हैं, लड़ते हैं और हर बार उनपर विजय प्राप्त करते हैं। बापू संयम, नियम और इंद्रियों पर नियंत्रण साधना के बल पर करते आये। उनको अपनी स्वयं परीक्षा करनी पड़ती थी और उसमें हर बार वह उत्तीर्ण रहते। उनमें सामान्य स्त्री-पुरुष की तरह ही गुण-दोष

दिखाई देते थे। असाधारण या विशिष्ट शक्तियों का आभास उनमें नहीं होता था। वह हममें से ही एक हैं, ऐसा लगता था। लेकिन सत्यनिष्ठ होने की वजह से सत्य की ही आराधना-उपासना और उसीकी खोज में उन्होंने जीवन भर प्रयोग किये। अपने ध्येय की प्राप्ति के लिए अहिंसा का ही एकमात्र जरिया उन्होंने इस्तेमाल किया। दूसरों के दुख से वह द्रवित होते थे, उसे दूर करने में अपना सब-कुछ निछावर करने के लिए तत्पर रहे। और जब ऐसा करना पड़ा तो किया भी। वह बरसात की तरह सब जगह बरसते थे। इसका भी उन्होंने कभी फर्क नहीं किया कि कांटे के झाड़ पर बरसता हूं या फलों के बाग को सींचता हूं।

जो कोई उनसे आकर्षित हुआ, प्रभावित हुआ, वह दूर न चला जाय इसका प्रयास वह करते थे, अन्यथा लोक-संग्रह की उनकी वृत्ति नहीं थी। लेकिन उनके स्वभाव और प्रवृत्तियों का वह परिणाम-मात्र अवश्य था। लाखों ने उनसे प्रेरणा पाई, उनके जीवन में वह बसे और उनमें मूलभूत परिवर्तन भी बापू से हुआ। बापू के बोल हृदय से निकलते। उनकी बातों को दिल अनेक बार मंजूर करता था, लेकिन दिमाग उनसे कई बार पूरी तरह सहमत नहीं होता, कभी-कभी टकराता भी। इसमें लोगों की असमंजसता भी थी तो साथ में असमर्थता भी। बापू से उनको हिम्मत और सामर्थ्य मिलता। इस तरह उनके जीवन में उत्तरोत्तर विकास होता।

आध्यात्म के असर को व्यवहार में लाने, कर्तव्यों को शुद्ध रख सकने अथवा विचार और कृति में कभी कहीं बारीक-सी भी संदिग्धता बापू के मन में रह जाती तो विनोबा ही स्थिति को स्पष्ट करते और उसको दूर करते। बापू से विनोबा ने खूब पाया। परन्तु बापू को भी विनोबा से कम नहीं मिला। कई बार मार्मिक प्रसंगों पर बापू ने कहा है—"विनोबा तो छोटा है, वह तो मेरा शिष्य ही है, लेकिन उसका व्यक्तित्व इतना बढ़ा-चढ़ा है कि वह मेरा गुरु हो सकता है।"

बापू व्यक्तियों की खोज नहीं करते थे, लेकिन जो उनसे आकर्षित हो गए उनकी पूरी देख-माल और संभाल का खयाल उन्हें रहता था। लोक-संग्रह उन्होंने नहीं किया, लेकिन उनसे हुआ जरूर। मिट्टी से मिनख उन्होंने बनाये, न-होने-जैसे कार्य उनसे करवाये। छोटे-छोटे लोगों से भी उन्होंने क्या हासिल नहीं किया! मनुष्य के गुण, उसके स्वभाव और काबिलियत के वह अच्छे जानकार थे। फिर भी मनुष्य के इरादों तक वह पूरी तरह नहीं पहुंच पाते थे। इस कमी की पूर्ति, व्यवहार की चतुरता और लोक-संग्रह की कला उन्हें काकाजी से मिलती थी।

काकाजी बचपन से ही साधक रहे। मोह, मद, माया, लोभ ने उन्हें कभी नहीं सताया। उनसे वह कभी संतप्त नहीं दिखाई दिये, अलिप्त रहे। ऐसा लगता था कि इन कमियों

को दूर करने की साधना उनकी हो चुकी थी। जमीन, जायदाद, रुपये-पैसे पर उनकी पकड़ थी और मज़बूत भी, लेकिन वह उनकी पकड़ में नहीं थे। अपने ऊपर खर्च करने में पाई-पाई का कस लगाते। किंतु दूसरों पर वाजिब खर्च करने में और योग्य दान देने में अपनी सुविधा और सामर्थ्य के आगे चले जाते थे, उनकी उदारता का पारा-वार नहीं रहता। वह उनका सहज स्वभाव था। उसके लिए उन्हें कभी प्रयास नहीं करना पड़ता था। जितना दान में देने का संकल्प कर लेते थे, उतना यदि वह अच्छी तरह से न लगा पायें अथवा उचित पात्र उनको न मिल पाये तो वह उनकी चिंता का एक कारण बना रहता था। सैंकड़ों-हजारों को उन्होंने ऐसे अज्ञात दान दिये हैं जिसकी जानकारी उनके (काकाजी) और जिनको दिया उनके अलावा किसी को कभी नहीं रही।

काम, क्रोध का शमन करना, यही उनकी साधना के मुख्य ध्येय थे। इसके लिए शुरू से ही वह गुरु की खोज में थे। अनेक महापुरुषों से उन्होंने संपर्क स्थापित किया। उनकी सेवा की, सहायता और साथ दिया, उनसे प्रेरणा और उत्साह पाया। लेकिन जब-तक बापू से नहीं मिले तबतक उन्हें संतोष नहीं हुआ। बापू को भी उन्होंने 'पिता' के स्थान पर ही ग्रहण किया 'गुरु' के नहीं। गुरु की खोज उनकी तबतक चलती रही जबतक विनोबा उन्हें नहीं मिले। बापू-विनोबा को पाकर उन्हें असीम समाधान और सुख मिलता रहा। क्लेश कभी होता था तो वह इसी बात का कि इन लोगों के लायक वह अपने को कितना बना पाये और उनके लायक अपने को न मानकर व्यथित रहे। उनकी वह अशांति माता आनंदमयी से मिलकर दूर हुई। शरीर जब उन्होंने छोड़ा उसके कई महीनों पूर्व से वह अत्यंत आनन्द और उन्नत अवस्था में थे। चेहरे पर आध्यात्मिक तेज था। शरीर को गो-सेवा के काम में घिसाते जा रहे थे। सभी प्रकार की आसक्ति अथवा मोह से मुक्त हो चुके थे। व्यापार, व्यवहार तथा पारिवारिक प्रश्नों से भी उन्होंने पूरी तरह से संन्यास ले लिया था। राजनीतिक, सामाजिक तथा इसी प्रकार की अनन्य संस्था-संगठनों से वह निर्लिप्त हो चुके थे, यद्यपि चाहने पर भी उन्हें ऐसी संस्थाओं से पूरी तरह से औपचारिक मुक्ति नहीं मिल सकी थी। गायों की सेवा का कार्य बापू और विनोबा की सलाह से आध्यात्मिक विकास को लक्ष्य में रखकर ही उन्होंने उठाया था और उसमें इस तत्परता, लगन, उत्साह, तेजी और परिपूर्णता से वह लग गए कि अपनी सुध-बुध का भी खयाल वह नहीं रख सके और आखिर में उसमें उनका शरीर भी साथ नहीं दे सका।

बापू और विनोबा से काकाजी ने बहुत-कुछ लिया। उसको काफी हजम किया। अपने पूरे परिवार को भी उसमें होम दिया। जहां तक संभव हुआ अपने हितैषी, मित्र, सगे-संबंधी, मुनीम-गुमाश्तों, नौकर-चाकरों को भी झोंक दिया। जिसकी जितनी शक्ति और पात्रता थी उसके अनुसार सभी को लाभ हुआ। स्वयं तो बापू-विनोबा के विचारों में, उनके कार्यों में और बापू के व्यक्तित्व में पूरी तरह से समर्पित हो चुके थे, खप चुके

थे। बापू ने जो कुछ कल्पना की, जितने भी मंत्र दिये उनके सैद्धांतिक विश्लेषण में विनोबा की अचूक दृष्टि और काकाजी की कुशल संगठन-व्यवस्था, सत्यनिष्ठ व्यवहार और व्यापार की समुचित वृत्ति, इन्सान को परखने की विशिष्ट बुद्धि तथा अच्छी तरह समझने की पैनी दृष्टि थी। जो कुछ समझा उसे जीवन में उतारने का आग्रह और कार्य करने की कुशलता, ये गुण बापू के हर तरह के कार्य और कार्यक्रम को मूर्त रूप देने में और सफल बनाने में काम आये।

काकाजी स्वभाव से ही लोक-संग्रही थे। अनेकों के साथ संबंध रखते, छोटे-बड़े, स्त्री-पुरुष, बाल-बच्चों सभी से वह हिल-मिल जाते। हरेक के अपने स्तर पर ही उससे मिलते। किसी को उनसे डर संकोच या दूरी का भाव नहीं रह पाता। उनके निर्मल व्यक्तित्व में आकर्षण था, प्रभाव था। जीवन के प्रश्नों को सुलझाने और सरलता से समझाने में वह सिद्धहस्त थे। कार्यकर्ताओं को खोज निकालने के लिए कुछ भी करना पड़े, कहीं भी जाना पड़े, उसमें उन्हें रस आता था। आदमी को वह तैयार करते थे, फिर जो काम उसको सौंपा उस काम को उसीसे तैयार करवाते थे। छोटे-से-छोटे कार्यकर्ताओं से लेकर बड़े-से-बड़े नेताओं के व्यक्तिगत, पारिवारिक, जमीन-जायदाद, रुपये-पैसों के झगड़े और झंझट सब वह अपने ऊपर लेते और निपटाते। विवाह, बीमारी, शिक्षा, नौकरी, व्यापार आदि के प्रश्न अगर विकट हो जाते तो उनका हल भी खोजते। यह सब कार्य दिलचस्पी, लगन और कुशलता से वह करते, इसमें उनका मनोरंजन भी होता। कार्यकर्ताओं को निश्चित कर जिम्मेदारी और कार्य में उनको जुटा देते। इस तरह से इन्सान के गुण-दोषों को वह समझते, उनकी शक्तियों को परखते, उनकी कमजोरियों को खयाल में रखते, उनके विकास का भी खयाल करते और अपना वरद-हस्त रखते हुए उनकी खिलती हुई शक्तियों का अनुमान करके जिम्मेदारियों उन्हें सौंपते जाते। हजारों व्यक्तियों और परिवारों के जीवन में वह उतरे हैं। इतना ही नहीं उन परिवारों के अंग बन गए। वे परिवार के परिवार उनके हो गए।

काकाजी के पास साधनों का संचय, और संगठनों की सुविधा थी। आवश्यकतानुसार साधन जमा करते, संगठन बनाते जाते, और संस्थाएं खड़ी करते। इतना सारा पसारा और अपना व्यवसाय चलाने के लिए मानव-शक्ति का संग्रह उन्हें करना पड़ता। वह इसकी राह नहीं देखते कि मौका ढूंढ़ने लोग उनके पास आवें। जिस तरह दरिया का पानी नहरों द्वारा खेतों तक पहुंचता है, उसी तरह वह गांव-गांव और घर-घर पहुंच जाते।

एक बार विनोद में काकाजी के सामने ही मैंने हिसाब लगाया। मेरा अनुमान था कि १०-१५ हजार स्त्री-पुरुषों को नाम से और व्यक्तिगत रूप से वह जानते होंगे। जब मोटी गिनती की तो वह आंकड़ा ५० हजार के ऊपर गया। शायद काकाजी को भी उसका अन्दाजा नहीं था। फिर भी उन्हें ताज्जुब नहीं हुआ। याददाश्त भी उनकी इतनी जबर्दस्त थी कि १५-२० साल बाद किसी से मिलने पर भी नाम-धाम के अलावा उससे

क्या वातचीत हुई थी, क्या परिस्थिति थी उसका भी उन्हें स्मरण रहता। काकाजी को गये २५ साल के ऊपर हो गए। आज भी कभी ऐसे लोग आ जाते हैं जिनसे हमारा कोई सम्वन्ध नहीं, संपर्क नहीं, जानकारी नहीं कि उन्होंने काकाजी से कोई मदद ली थी। वे आकर कहते कि उन्हें खेद है कि अभी तक वह कर्ज चुका नहीं सके और अव लौटाना चाहते हैं। उनसे छुटकारा पाना भी मुश्किल होता है। हिसाव-किताव में कहीं लिखा नहीं। काकाजी ने सहायता-स्वरूप दिया हो तो वह वापस कैसे लिया जाय। कर्ज रूप दिया हो तो वही-खातों में क्यों नहीं? यह भी संभव है कि काकाजी ने सहायता दी हो और लेनेवाले ने कर्ज मानकर लिया हो। फिर उस रकम को किसी सेवा-कार्य में लगवाकर निपटारा होता है।

देश के कोने-कोने में, जहां का आभास भी नहीं हो सकता, काकाजी के संपर्क में आए हुए लोग अव भी मिल जाते हैं, और वे महसूस करते हैं कि काकाजी उनके थे। ऐसे उदाहरण भी अनेक हैं जिनमें देश, समाज या अन्य किसी सेवा-कार्य में आकर्षित करने के लिए काकाजी को एक नहीं अनेक वार उनके पास जाना पड़ा हो, और उनको ही नहीं वल्कि परिवार के अनेक लोगों को समझाना पड़ा हो। उनका वह प्रयास वर्षों चालू रहता था। इसमें वह कभी थकते नहीं थे, हार तो उन्होंने कभी जानी ही नहीं। इस तरह से लोगों का संग्रह वह करते। उनकी जमात वनाते। संस्था और संगठनों में उनको जुटाते। व्यवस्था जमा देते, मार्गदर्शन देते और खुद भी कार्य का निर्भीकता से विस्तार करते चले जाते; क्योंकि वह जानते थे कि उनकी वुनियाद मजवूत है।

कई लोगों ने उनसे पूछा कि जमनालालजी, यह दुनिया की झंझटें और मुसीवत अपने ऊपर क्यों ले लेते हो? तो उनका सरल जवाव होता, "इन झंझटों में जो उलझ जाता है, कुछ नहीं कर पाता और दुखी होता है; पर मेरे लिए यह आसान काम होता है, तो मैं अपने ऊपर ले लेता हूं। दूसरा निश्चिंत होता है। यह भी एक सेवा ही है और इतना-सा करने के वदले वह पूरी तरह से सार्वजनिक काम करने के लिए मिल जाता है। यह कमाई कम है क्या? कांग्रेस का, रचनात्मक कामों का, व्यापार का और जो अनेक कामों का इतना वड़ा पसारा तुम देखते हो वह किनकी वदौलत और किनके भरोसे हो पाता है? छोटी-मोटी झंझटों को दूर कर कितनी वड़ी मानव-शक्ति का निर्माण होता है? मनुष्य की शक्तियों का विकास होता है। इतना ही करके सारे कार्यों की जिम्मेदारी यदि मैं उनपर सौंप सकता हूं तो मेरी निश्चिंतता को भी तो देखो। खुद की चिंता में आदमी मर-मिटता है। दूसरों की चिंता अपने पर लेकर आदमी पनपता है। इसमें दुहरा विकास होता है। इतना करने के वाद भी यदि वह आदमी अलग हो गया तव भी उसमें नुकसान कहां? सेवा तो सेवा के लिए ही है। उसमें मोल-तोल थोड़े ही होता है। पर जव तुम पूछते हो तो उसका भी हिसाव तुमको देता हूं।" इस तरह के जवाब उनके होते थे। काकाजी ने जिसको अपनाया वह काकाजी का ही हो गया। मरते दम तक

उनका ही रहा। काकाजी नहीं रहे तो हजारों स्त्री-पुरुषों ने महसूस किया कि उनके ही काकाजी उठ गए।

काकाजी बचपन में शौकीन थे। लेकिन थे सरल, और साधना से सादे भी हो गए। खर्च उनका कुछ रहा ही नहीं। जिनको वह मदद करते थे ऐसे अनेकों के खर्च उनके खुद के खर्चों से विशेष होते थे। सार्वजनिक संस्थाओं, संगठन, व्यापार या परिवार में भी पाई-पाई के खर्चे का वह निरीक्षण करते। फिजूल का खर्च उन्हें सहन नहीं होता। बापू को ऐसा व्यवहारी और हिसाबी कोई दूसरा नहीं मिला। विनोबा भी हिसाबी हैं, और जीवन-मूल्यों के विशेषज्ञ भी। लेकिन दुनियादारी का व्यवहार उनमें कहां? ऐसा नहीं कि करना चाहते तो वह कर नहीं सकते थे, लेकिन जीवन में उनको इसमें कभी रस नहीं रहा।

इन तीनों के व्यक्तित्व में काफी सामन्जस्य होते हुए भी अपने-अपने ढंग से निराला और स्वतंत्र भी रहा है। विनोबा बापू के होते हुए भी बापू के वर्तुल में पूरी तरह से नहीं समा जाते। उनका वर्तुल बापू के वर्तुल को काटता हुआ अपनी स्वतंत्र परिधि भी रखता है। काकाजी का व्यक्तित्व, स्वभाव और प्रक्रिया से कई बातों में भिन्न होते हुए भी अपने अहं का उन्होंने शमन किया और इस हद तक किया कि वह विनोबा में डूबे, लेकिन बापू में खपे और खो गये। बापू के अलावा उनका कुछ रहे, इसकी तनिक भी इच्छा उनको नहीं रही। इतना ही नहीं, जहां कहीं और जब कभी ऐसा आभास दूसरों की वजह से उन्हें होता तो वह उन्हें खटकता। काकाजी नहीं रहे। वह बापूमय हो गए। राम के साथ हनुमान जिस तरह से गये उतना नहीं भी कहा जा सके, लेकिन कृष्ण के साथ में अर्जुन जिस हद तक गये उतना बापू के साथ काकाजी हो गए।

काकाजी साधना में व्रत, यम, नियम, संयम, उपासना, प्रार्थना आदि का समावेश कुछ-न-कुछ रखते थे। हर वर्ष अपने खाने-पीने में भी तरह-तरह के नियम वह लागू करते थे। परन्तु इतना ही करके उन्हें संतोष नहीं होता था। उनकी सारी वृत्ति का एक लक्षण यह भी था कि काम-क्रोध, मद लोभ आदि दोषों की एक तालिका रखते और खासकर अपने जन्म-दिन के उपलक्ष्य में वह स्वयं चिंतन करते, गुरुजनों से चर्चा करते, माताजी, मित्र-वर्ग, मुनीम, गुमाश्ते, नौकर-चाकर और यहां तक कि बच्चों में मुझ तक से भी पूछ-ताछ करते कि उनके इन दोषों में कितनी कमी या बढ़ती हमको लगती है। उनको अच्छी तरह से समझकर उनमें अंक देते और उनको जोड़कर पूरा हिसाब लगाते कि पिछले वर्ष की अपेक्षा अपने दुर्गुणों को वह कितना कम कर सके हैं। इस तरह वह अपने दुर्गुणों से सतत जागृत रहते और दूसरों को उनसे परिचित भी रखते। उनकी इस प्रवृत्ति का एक मार्मिक प्रसंग इसी पुस्तक में पृष्ठ ९७ पर आ चुका है।